बृहदारण्यक उपनिषद्

पं० राजाराम प्रोफैसर डी.ए.वी. कालेज, लाहौर प्रणीत ।

सरल हिन्दी भाष्य समेत ।

—:o:—

सम्वत् १९७९ विक्रमी ।

बाम्बे मैशीन प्रेस लाहौर में मैनेजर हरभगवान शर्म्मा के प्रबन्ध से छपा ।

तीसरी वार १०००] [मूल्य २।)

बृहदारण्यक की विषय सूची।

ओ३म्

भूमिका ।

(१) आरण्यक ब्राह्मण का वह भाग है, जिस में यज्ञ और उपासना के रहस्य और ब्रह्म-विद्या का वर्णन रहता है। इस को जंगल में पढ़ते पढ़ाते थे, इस लिये इसे आरण्यक कहते हैं ॥

(२) बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। यह उपनिषद् बड़ी है, और इस में उपनिषद् के सारे विषय आजाते हैं । ब्रह्म-विद्या के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग बहुत से साधनों का इस में वर्णन है, इस लिये इस को बृहदारण्यक कहते हैं ॥

(३) शतपथ ब्राह्मण दो शाखाओं के मिलते हैं। एक माध्यन्दिन शाखा का, और दूसरा काण्वशाखा का। इन दोनों का पाठ प्रायः एक ही जैसा है, कहीं २ भेद है। अभी तक जो शतपथ मूल वा सभाष्य छपे हैं, वे माध्यन्दिनीय शाखा के हैं। काण्व शतपथ ब्राह्मण छप रहा है। यह उपनिषद् काण्व-शाखा की है।

(५) माध्यन्दिन शाखा के शतपथ में बृहदारण्यक उपनिषद् १५ वें काण्ड के चौथे अध्याय (वा तीसरे प्रपाठक) से आरम्भ होती है। इस का आरम्भ "द्वया ह" इस ब्राह्मण से होता है। पर यह काण्वशाखा की उपनिषद् इस शाखा के १७ वें काण्ड के अन्तिम छः अध्याय हैं और यह "उषा ह वै" इस ब्राह्मण से आरम्भ होती है ॥

(५) शङ्कराचार्य्य से पहले इस उपनिषद् पर भर्तृप्रपञ्च

एक बड़ा सविस्तर भाष्य था । वह भाष्य माध्यन्दिन शाखा की उपनिषद् पर था । पर शङ्कराचार्य्य ने अपना भाष्य काण्व-शाखा की उपनिषद् पर किया । प्रतीत होता है, कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने अपने योग्य शिष्य सुरेश्वराचार्य की प्रसन्नतार्थ काण्वशाखा की उपनिषद् पर अपना भाष्य किया है । स्वामी शङ्कराचार्य्य की तैत्तिरीय शाखा थी, और सुरेश्वराचार्य्य की काण्वशाखा थी । इसी लिये तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदों के भाष्यों पर ही सुरेश्वराचार्य्य ने वार्तिक लिखे । यह इस प्रकार हुआ, कि जब कई दिनों के शास्त्रार्थ के पीछे मण्डन मिश्र को शङ्कराचार्य्य ने जीत लिया, तो उस को संन्यासी बनाकर उस का नाम सुरेश्वराचार्य्य रक्खा । कुछ दिनों के पीछे सुरेश्वराचार्य्य ने शङ्कराचार्य्य से प्रार्थना की । भगवन् ! मुझे कोई आज्ञा दें । तब शङ्कराचार्य्य ने उसे कहा :—

सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषीया
शाखा, तदन्तगत भाष्य-निबन्ध इष्टः ।
तद्वार्तिकं मम कृते भवता प्रणेयम्
सचेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम् ॥ ६५ ॥
तद्वत् त्वदीया खलु काण्वशाखा
ममापि तत्रास्ति तदन्त भाष्यम् ।
तद्वार्तिकं चापि विधेय मिष्टं
परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ॥ ६६ ॥ *

* विद्यारण्यकृत शङ्करदिग्विजय, सर्ग १३ ॥

हे सोम्य ! तुम जो कहते हो, सत्य है मेरी (शङ्कराचार्य्य की) शाखा यजुर्वेद की है । उस के उपनिषद् (तैत्तिरीय) पर मैंने भाष्य किया है । अब मेरी प्रसन्नता के अर्थ तुम उस पर वार्तिक लिखो । क्योंकि सत्पुरुषों का काम दूसरों के हित के लिये ही होता है ॥

ऐसे ही तुम्हारी जो काण्वशाखा है, उस के उपनिषद् (बृहदारण्यक) पर भी मैंने भाष्य किया है, उस का भी एक अच्छा वार्तिक बनाओ, सत्पुरुषों की प्रवृत्ति लोगों की भलाई के लिए ही होती है ॥

(६) उपनिषद् का अर्थ समझने में कठिनाइयां बहुत हैं । इस विद्या में रहस्य भरे हुए हैं, जिन को गुरु के चरण में बैठकर सीखते थे । सारी उपनिषदों में इस बात का उपदेश मिलता है, कि इस विद्या को गुरु के पास जाकर सीखो । ऐसे गुरु के पास, जिसने स्वयं भी गुरु से इस के मर्म समझे हैं । श्वेताश्वतर की समाप्ति में स्पष्ट कह दिया है कि :–

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

जिस की परमात्मा में परमभक्ति है, और जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को ये कही हुई बातें प्रकाशित होती हैं ।

(७) उपनिषदों के उपदेश की रीति ही इस बात को स्पष्ट कर देती है, कि यह विद्या शिष्यपरम्परा से एक दूसरे के पास आती रही है । बृहदारण्यक २।२ में इस शरीर में सात ऋषि बतलाते हुए यह कहा है "ये ही

द्वाज हैं। यह ही गौतम है और यह भरद्वाज है" यह उपदेश इस रीति पर हुआ है कि आचार्य शिष्य को दोनों स्थानों की ओर अंगुलि करके दिखलाता है. कि 'ये दोनों गौतम और भरद्वाज हैं'। अक्षरों से इस संकेत का समझना कठिन है। शंकराचार्य्य दोनों से तात्पर्य दोनों कान लेते हैं, और आगे लिखते हैं "गौतम दायां कान है और भरद्वाज बायां। वा गौतम बायां और भरद्वाज दायां है" देखिये, वही शंकराचार्य्य जो सन्दिग्ध बहुत कम होते हैं, वह भी ऐसे स्थान पर सन्दिग्ध बाणी बोलते हैं।

प्रोफैसर मैक्समूलर उपनिषद् की भूमिका में लिखते हैं:-

And I have again and again had to translate certain passages tentatively only, or following the commentators, though conscious all the time that the meaning which they extract from the text cannot be the right one.

"और मुझे कई वाक्यों का अनुवाद तो केवल प्रयत्न के तौर पर बार बार करना पड़ा है, या मैंने दूसरे व्याख्याकारों का अनुसरण किया है. यद्यपि मैं सर्वदा जानता था, कि जो अर्थ मूल का वे देते हैं, वह भी ठीक नहीं है"॥

(८) यज्ञों का प्रभाव इस विश्व पर क्या होता है? और आत्मा पर क्या होता है? यज्ञ का अङ्ग २ किसप्रकार ब्रह्माण्ड के अङ्ग अङ्ग का चिन्ह है, इत्यादि भेद, जो यज्ञविद्या के साथ

सम्बन्ध रखते हैं, जब यह खुल जाएंगे, तो ये कठिनाइयां बहुत कुछ दूर हो सकेंगी । पर यह सफलता कई बड़े निपुण विद्वानों के परिश्रम के पीछे प्राप्त होगी, हमारा काम अभी आरम्भ का है ।

जिस सरलता से मैंने शास्त्रों के सत्य २ अर्थ प्रकाशित किये है और यदि कोई बात समझ में नहीं आई तो वह भी स्पष्ट लिखदी है । इस सरलता को बहुत से सज्जनों ने तो पहले ही बड़े आदर की दृष्टि से देखा था । पर कइयों ने यह भी कहा था, कि आजकल प्रायः लोग दम मारने वालों पर मोहित होते हैं, और मोड़ तोड़ करने वालों के साथी । इस से तुम्हारे अनुवाद ऐसे लोगों को प्रिय न होंगे । पर मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है, कि शास्त्र प्रेमी सज्जनों पर यह दोषारोप सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुआ है । जितना बड़ा आदर मेरे अनुवादों का लोगों ने किया है, इस से मैं यही समझता हूं, कि सभी मेरे साथ एक स्वर हो कर कह रहे हैं—

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः

बृहदारण्यक उपनिषद् ।

पहला अध्याय * पहला ब्राह्मण † (अश्व ब्राह्मण)

अवतरणिका—विराट् का यज्ञिय अश्व के रूप में वर्णन ।

ओ३म् । उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः, सूर्य श्चक्षु-र्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः । संवत्सर आत्मा ऽश्वस्य मेध्यस्य, द्यौः पृष्ठ मन्तरिक्ष मुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तर-दिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि । ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमा-नश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद् विजृम्भते तद् विद्योतते, यद् विधू-नुते तत् स्तनयति, यन्मेहति तद्वर्षति, वागेवास्य वाक् । १

निःसंदेह उषा ‡ यज्ञिय अश्व (घोड़े) का सिर है, सूर्य्य

---

* यह आरण्यक का तीसरा अध्याय है, पर उपनिषद् का पहला है ॥

† इस उपनिषद् में तीन प्रकार के अंक हैं, पहला अध्याय का दूसरा ब्राह्मण का और तीसरा खण्ड का । इस पहले ब्राह्मण का नाम अश्वब्राह्मण है ।

‡ उषा=वह समय जब आकाश में लाली पड़ती है ॥

नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि * खुला (मुँह) है, बरस यज्ञिय अश्व का शरीर है, द्यौ पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, पृथिवी छाती है, † दिशाएं पार्श्व (पासे) हैं, अन्तराल दिशाएं (कोणें) पसलियां हैं, ऋतुएं अङ्ग (भुजा, टांगें आदि) हैं, महीने और आधे महीने जोड़ हैं, दिन और रात पाओं हैं, तारे हड्डियें हैं, बादल मांस हैं, (पेट में) अधपचा आहार रेत है, नदियें अंतड़ियां ‡ हैं, जिगर और फेफड़े § पहाड़ हैं, ओषधियां और

---

* वैश्वनर अग्नि=वह अग्नि जो हरएक पदार्थ में फैला हुआ है, अर्थात् समष्टिरूप अग्नि ॥

† पाजस्य=छाती, शब्द सन्दिग्ध है । शंकराचार्य्य ने इस का अर्थ पादस्य=खुर किया है । (१) पर यदि यह अर्थ होता, कि पृथिवी खुर है, तो इस का वर्णन "दिन और रात पाओं हैं" इस के पीछे आना चाहिये था, क्योंकि सिर से लेकर पाओं तक अनुक्रम से सारे अंगों का वर्णन है । इस में "पाजस्य" को जो स्थान मिला है, वह खुर के वर्णन का नहीं, किन्तु छाती का है । अतः छाती अर्थ करने में क्रम ठीक रहता है । (२) और यहां ही आगे (१ । २ । ३ में) द्यौ को पीठ और अन्तरिक्ष को पेट कह कर पृथिवी को उरस्=छाती बतलाया है । (३) वेद में जो पाजस् शब्द आता है, वह बल और मज़बूती के अर्थ में आता है और बल और मज़बूती का आधार छाती को वर्णन करना जगत् प्रसिद्ध है॥

‡ गुदा, बहुवचन है, इस का अर्थ मल को बहाने वाली अन्तड़ियां किया गया है ॥

§ क्लोमानः बहुवचन है, शंकराचार्य्य लिखते हैं, कि

बनस्पति लोम हैं । ऊपर को चढ़ता हुआ (सूर्य, अश्व का) अगला आधा (शरीर) हैं, (दुपहर से पीछे) नीचे ढलता हुआ (सूर्य) पिछला आधा (शरीर) है, जो जंभाई लेना है, वह चमकना है, जो (शरीर को) झाड़ना है, वह कड़कना है, जो मूतना है वह बरसना है, वाणी (गर्जना) ही इस की वाणी (हिनहिनाना) है* ॥१॥

भाष्य–इस में, अश्वमेध के घोड़े के विषय में जो रहस्य है, उस का वर्णन है। यह सारा जगत् समष्टिरूप में विराट् है, यह विराट् एक पुरुष है, भिन्न २ देवता उस के भिन्न २ अंग हैं, जैसे सूर्य नेत्र है और वायु प्राण है इत्यादि (देखो ऋग्० १०।९० और अथर्व १०।७।३२-३४)। इसी विराट् से हमारा जीवन बना है और इसी के अंगों से हमारे अंग बने हैं जोकुछ इस बड़े ब्रह्माण्ड में हैं, वही हमारे इस छोटे शरीर में है। "जो ब्रह्मण्डे सोई पिण्डे" (देखो ऐतरेयारण्यक २।४।१-२;२।३।३;) हमारे अन्दर की शक्तियां इन बाहर की शक्तियों के साथ ओत प्रोत हो रही हैं। यदि यह बाहर का जगत् शुद्ध पवित्र बलिष्ठ और दृढिष्ठ है, तो हमारी अध्यात्म शक्तियों पर उस का वैसा ही प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार यदि हमारी अध्यात्म शक्तियां शुद्ध, पवित्र, बलिष्ठ और दृढिष्ठ हैं तो वे इस बाहर के जगत्

क्लोमानः यह सदा बहुवचन आता है, पर है एक ही वस्तु। अर्थात् हृदय के नीचे के मांस का लोथड़ा और यह जिगर के मुकाबिले में बतलाया है, इसलिए फेफड़ा समझा गया है॥

* अश्वमेध का सविस्तर वर्णन शत० ब्रा० १३।१-५ में है। और वा० सं अध्याय २२-२३ में है।

को वैसा ही बना देने का सामर्थ्य रखती हैं यज्ञ का नियम इसी सम्बन्ध के आधार पर है। बाहरी जगत् में जो स्वभावतः यज्ञ हो रहे हैं, उन्हीं का अनुकरण यह हमारे यज्ञ हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो यज्ञों का बर्णन है, उस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यज्ञ नया नहीं उत्पन्न किया जाता, किन्तु वह पहले ही वर्तमान है, उस को फैला दिया जाता है। यज्ञ के लिए धातु "वितन्"=फैलाने का प्रयोग होता है। हमारे यज्ञ स्वाभाविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं.इसलिए हमारे यज्ञों के अंग स्वाभाविक यज्ञ के अंगों से उपमा दिये गए हैं। यज्ञ के तीनों अग्नियों को तीनों लोकों से उपमा दी गई है। गार्हपत्य अग्निको भू-लोक से। दक्षिणाग्नि को अन्तरिक्ष से और आहवनीय अग्नि को द्युलोक से। ठीक इसी प्रकार यहां अश्वमेध का जो अश्व है,उसके अंगों को विराट् के अंगों से उपमा दी गई है। व्यष्टि जीवन को समष्टि जीवन के साथ मिला देना यज्ञ का रहस्यहै। जब इस विराट् पुरुष की आज्ञा से यह अग्नि ही बाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ है और वायु ही प्राण बन कर नाकमें प्रविष्ट हुआ है (देखो ऐतरेयारण्यक २।४।२) तो अब भी बाणी अग्निरूप और प्राण वायु रूप है। यह बात ऐतरेयारण्यक (३।१।६) के देखने से और भी स्पष्ट हो जाएगी, जहां पुरुष की विभूतियों का वर्णन है। सो इस उपर्युक्त अभिप्राय से यहां अश्व के अंग और कर्मों की विराट् के अंगों और कर्मों के साथ एकता दिखलाई है। यही बात "आदित्यादि मतयश्चाङ्ग उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ४।१।६) में दिखलाई है। ऐसे रहस्य यज्ञ का आत्मा हैं, जो इन के समझे बिना, और यज्ञ काल में इन का ध्यान किये बिना यज्ञ करता है,उसका यज्ञ आत्मा से शून्य बाहर का आडम्बर है और

वह बहुत थोड़ा फल देता है। छान्दोग्य उपनिषद् (१।१।१०) में कैसा उत्तम कहा है " कर्म तो दोनों ही करते हैं जो इस को ठीक समझता है और जो नहीं समझता है, पर समझना और न समझना एक जैसा नहीं, जिस कर्म को यह पुरुष विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् (रहस्य ज्ञान) के साथ करता है, वही कर्म पूरा बल रखता है " इस लिए कर्म करने वाले को उस के मर्म का जानना, और, कर्म करते समय उसी में लौलीन हो जाना, आवश्यक है । और यह लौलीन हो जाने का अभ्यास जब बढ़ जाता है, तो फिर कर्म के बिना निरे अपने संकल्प बल से भी उसी फल को प्राप्त कर लेता है। संकल्प में बड़ी प्रबल शक्ति है, इस विषय में शाण्डिल्य ने (छान्दो० ३।१४ में) कैसा प्रबल कहा है, कि "यह पुरुष संकल्पमय है, यह जैसा इस लोक में संकल्प रखता है, इस से अलग हो कर वैसा ही जा बनता है, उस को चाहिये कि यह दृढ़ संकल्प उत्पन्न करे, कि " यह आत्मा जो एक अणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और इस सारे लोक से भी बहुत बड़ा है... इसी को मैं यहां से अलग हो कर प्राप्त हूंगा, पर यह पक्का विश्वास हो, सन्देह की कोई रेखा न रही हो " इसी प्रकार दूसरी जगह (छान्दो० ५ । १८-२४) में कैसा सुन्दर उदाहरण मिलता है, कि प्रबल संकल्प एक हृदय से उठकर किस प्रकार सारे विश्व पर अपना प्रभाव डाल देता है । और वहां ही यह भी स्पष्ट मिलता है, कि जब संकल्प में पूरा बल आजाता है, तब ही अग्निहोत्र सच्चा अग्निहोत्र बनता है और एक शक्ति वाला पुरुष केवल संकल्प की शक्ति से भी उसी फल को

उत्पन्न कर देता है । इसी प्रकार यहां भी यही उद्देश्य है, कि एक शक्ति वाला पुरुष बिना अश्वमेध किये केवल संकल्प की शक्ति से भी उसी फल को प्राप्त करले । ज्ञानी के लिए यही अश्वमेध है, कि वह इस उक्त विधि से विराट् का ध्यान करे ।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत, तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनि-रेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः । हयोभूत्वा देवा-नवहद् वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवा-स्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥ २॥

दिन महिमा के स्थान प्रकट हो कर अश्व के आगे रखा जाता है । उसका पूर्व समुद्र में स्थान (योनि) है। रात इसके पीछे की महिमा (के तौर पर) प्रकट हुई. उस का पश्चिमी समुद्र में स्थान है । ये दोनों घोड़े की दोनों ओर की महिमा बने * ॥

---

* दो ग्रह अर्थात् यज्ञ के वर्तन, जिन में हवि डाली जाती है, वेअश्वमेध में घोड़े के आगे और पीछे रक्खे जाते हैं । अगला ग्रह सोने और पिछला चांदी का होता है । यज्ञ की परिभाषा में इन दोनों को महिमा (बड़ाई) कहते हैं । और जिस जगह पर ये दोनों ग्रह (बर्तन) रक्खे जाते हैं, उस को योनि कहते हैं । यहां दिन अगली महिमा (सोने का बर्तन) कहा है । और रात्रि पिछली महिमा (चांदी का वर्तन) कहा है । और पूर्वी पश्चिमी समुद्र इन दानों बर्तनों के रखने की जगह हैं । यह ऐसे अभिप्राय से कहा है जैसे जापान को सूर्य्य चढ़ने का स्थान कहते हैं । वाजसनेयि संहिता २३ । २; ४ । में महिमा और योनि का वर्णन है ।

आगे बढ़ने वाला हो कर वह (घोड़ा) देवताओं को लेगया, वाजी हो कर गन्धर्वों को, दौड़ने वाला हो कर असुरों को और अश्व (सामान्य घोड़ा) हो कर मनुष्यों को। समुद्र ही* इसका बन्धु है और समुद्र ही इसका उत्पत्ति स्थान है॥

दूसरा ब्राह्मण († अग्नि ब्राह्मण)

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्, तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं। कꣳ ह वा अस्मै भवति, य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥ १॥

पहले यहां कुछ नहीं था (जो अब यहां दीखता है)। मृत्यु से ही यह (दृश्य) ढका हुआ था-भूख से ‡ क्योंकि भूख मृत्यु है।

---

* समुद्र=द्रवावस्था में प्रकृति, जिस से आगे विराट् उत्पन्न हुआ, समुद्र=परमात्मा अथवा प्रसिद्ध जो समुद्र है, (शंकराचार्य)।

† इस ब्राह्मण का नाम अग्नि ब्राह्मण है। इस में अश्वमेध के अग्नि का तत्त्व उपदेश किया है, यह माध्यन्दिन शतपथ १०। ६। ५ में है॥

‡ जिस तरह मट्टी के बर्तन मट्टी से निकल कर अलग रह कर फिर मट्टी में मिल जाते हैं। और मट्टी ही बन जाते हैं। इसी तरह यह जगत् प्रकृति से निकल कर फिर प्रकृति में मिल जाता है और प्रकृति ही बन जाता है। उस प्रकृति के

अन्दर उस का अधिष्ठाता ब्रह्म है जो इस जगत् को अपने मूल रूप में ले जाता है। प्रलय काल में प्रकृति के साथ मिला हुआ वह ब्रह्म इसका मृत्यु है, मानों वह एक भूख है, जिसका आहार यह सारा जगत् बन जाता है। कठवल्ली (१ । २ । २४ में सारे जगत् को उस का भोजन बतलाया है। और "अत्ता चराचर ग्रहणात्" (ब्रह्मसूत्र १ । २६) में सिद्ध किया है, कि यह खाने वाला परमात्मा है क्योंकि (प्रलय काल) में (सारे) चराचर को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार यहां भी प्रलय काल में प्रकृति के अधिष्ठाता ब्रह्म को मृत्यु और भूख कहा है। (प्रश्न) कोई वस्तु नास्तित्व से अस्तित्व में नहीं आती, यह जगत् जब प्रलयकाल में था ही नहीं, तो कहाँ से उत्पन्न हुआ (उत्तर) प्रलयकाल में भी था, इसी लिए प्रकट हुआ (प्रश्न) यहां तो लिखा है कि कुछ नहीं था, फिर कैसे कहते हो, था (उत्तर) इसी के आगे तो लिखा है, कि यह मृत्यु से ही ढपा हुआ था। जो ढपा हुआ था, वह था। जो ढपी हुई वस्तु है, वह अवश्य है उस से कौन इनकार कर सकता है। (प्र०) यदि था, तो दीखता क्यों नहीं था (उ०) किस को दीखता, ब्रह्म को वा जीव को (प्र०) ब्रह्म को (उ०) ब्रह्म को दीखता था (प्र०) तुम कैसे जानते हो, कि उस को दीखता था (उ०) तुम कैसे जानते हो कि नहीं दीखता था (प्र०) मैंने तो यूं ही कहा है आप से उत्तर पाने के लिए (उ०) अच्छा तो सुनिये, क्योंकि यह ढपा हुआ था, इस लिये था। और मृत्यु अर्थात् अधिष्ठाता ब्रह्म से ही ढपा हुआ था, इस लिये वह इस को अवश्य जानता था (प्र०) अच्छा तो जीव को

उसने सोचा कि "मैं शरीर वाला होउं *" वह पूजा करता

क्यों नहीं दीखता था (उ०) जीव को कैसे दीखता (प्र०) जैसे अब दीखता है (उ०) अब तो आंखों से दीखता है, उस समय आंखें न थीं (प्र०) क्या अगर आंखें होतीं, तो देख पाता (उ०) नहीं देख पाता (प्र०) फिर यह क्यों (उ०) इस लिये कि छपा हुआ था, छपी हुई वस्तु अब तुम्हें कब दिखलाई देती है (प्र० छप कैसे गया (उ०) मृत्यु ने उस को ढांप दिया। जो पदार्थ विद्यमान है, उस के ढांपने वाला दूसरा पदार्थ होता है। जैसे दीवार की ओट में कुछ नहीं दीखता, और जो वस्तु अभी पैदा नहीं हुई, वह अपने कारण में छपी रहती है जैसे तिलों में तेल, दूध में मक्खन और मट्टी में मट्टी के बर्तन। जो हो कर नष्ट होती है वह भी अपने कारण में छप जाती है, जैसे जल कर लकड़ी। नाश का अर्थ ही छिप जाना (न दीखना) है। अभाव किसी वस्तु का नहीं होता। जो कुछ उत्पन्न हुआ है, मृत्यु उस को एक दिन छिपा देती है अपने कारण में ढांप देती है। इसी प्रकार इस जगत् को भी मृत्यु ने छिपा दिया था। अभाव इस का नहीं था और न अभाव से उत्पन्न हुआ। स्वामी शंकराचार्य ने यहां अपने भाष्य में बड़ी प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति किसी तरह नहीं हो सकती उन का वह विचार बड़ा ही मनोरञ्जक है।

* अर्थात् इस प्रकृति से एक रचना रचूं, जो मेरे शरीर स्थानी हो, जिस का अन्तरात्मा हो कर मैं उस को अपने नियम में चलाउं॥

हुआ विचारा, इस प्रकार उसके पूजा करते हुए जल* उत्पन्न हुए। (उसने कहा) निश्चित मेरे लिये जल (वा सुख) † हुआ है, जब मैं पूजा कर रहा था। यही अर्क (=जल) का अर्कपन है ‡। निश्चित उस के लिये जल (वा सुख) होता है, जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कपन को जानता है।

---

* पूजा करता हुआ, सृष्टि से रचने में मैं समर्थ हूं, इस प्रकार ब्रह्म का अपने सामर्थ्य को देखना अपना आदर वा अपनी पूजा है॥

† जब प्रकृति में इस जगत् की रचना के लिये क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होता है। तो एकदम यह स्थूल जगत् उत्पन्न नहीं हो जाता, किन्तु पहले एक सूक्ष्म सृष्टि बनती है, जिस को इस स्थूल जगत् का कारण वा बीज कहते हैं। उस सूक्ष्म सृष्टि को आर्ष ग्रन्थों में जल वा समुद्र के नामों से लिखा है। अघमर्षण मंत्रों ('ऋतं च सत्यं' ऋग् १०।९० ।१-३) मे "ततः समुद्रो अर्णवः" से इसी समुद्र की सृष्टि कही है। क्योंकि प्रलय (रात्रि) के पीछे यही सूक्ष्म सृष्टि होती है। पृथिवी का समुद्र पृथिवी के बनने पर हो सकता है, पहले नहीं। मनु १।८ में इसी सूक्ष्म सृष्टि को जल कहा है। इस सूक्ष्म सृष्टि को समुद्र वा जल कहने का यह अभिप्राय है, कि यह समुद्र की तरह इस आकाश में भर जाती है, और बहते हुए पानी की तरह उस में क्रिया रहती है. पतली होती है और इस जगत् का बीज है। यही सूक्ष्म सृष्टि ब्रह्म का पहला शरीर है। इसी वाला ब्रह्म हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा कहलाता है॥

‡ अर्क का अर्कपन है अर्थात् जल क्यों अर्क कहा जाता

आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् । तस्यामश्राम्यत्, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निर्वर्ततााग्निः ॥२॥

जल निसन्देह अर्क है, वह, जो जलों की झाग थी, वह जम गई। (और) वह पृथिवी बनी * उस (पृथिवी) पर

है। अर्च पूजा करना, और क=सुख । जल पूजा करते हुए हुआ है और सुख का साधन है इस लिये जल अर्क है (अरबी में, अर्क पसीना)

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं, कि अर्क से यहां अभिप्राय अग्नि है, क्योंकि अश्वमेध के अग्नि का यह प्रकरण है। यह सम्भव है, परन्तु अक्षरों के स्वारस्य से यहां अर्क से जल का अर्थ लेना ही ठीक प्रतीत होता है, जिन से कि परम्परा से अग्नि उत्पन्न हुआ। यहां अग्नि के प्रकरण का यह सम्बन्ध है जैसा आगे लिखा है, कि जलों से पृथिवी हुई उस पर ब्रह्म ने श्रम किया. और जब उस ने श्रम किया और तप तपा तो उस से अग्नि उत्पन्न हुई । यह अग्नि तीन रूपों में है, अग्नि, सूर्य और वायु । और तीनों मिल कर प्राण कहलाता है। आनन्द तीर्थ ने भी यहां अर्क से जल अर्थ ही लिया है ॥

* आधे बिलोए दूध में जो ऊपर मलाई वाली झाग आ जाती है उस का नाम शर है। यहां सूक्ष्म सृष्टि को जल कहा है, उस में लगातार क्रिया रहने के पीछे जो शर की नाईं फूला हुआ घना भाग इस में से अलग हुआ, वही अधिक घना हो कर एक गोला बन गया। पृथिवी से यहां तात्पर्य गोला है।

उस (मृत्यु) ने श्रम किया। जब उसने श्रम किया और गर्म हुआ, तब उस से तेज (रूप) रस निकला–अर्थात् अग्नि * ॥

सत्रेधाऽऽत्मानंव्याकुरुतादित्यंतृतीयंवायुंतृतीयꣳस एष प्राणस्त्रेधा विहितः तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ। दक्षिणाचोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्ष मुदर मियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ३॥

उस (अग्नि) ने तीन प्रकार से अपने आप को विभक्त किया, आदित्य (सूर्य) तीसरा है, वायु तीसरा है (और एक तीसरा अग्नि है †) सो यह प्राण तीन प्रकार से विभक्त हुआ

ऋग्वेद (१ । १०८ । ९-१०) में इसी अभिप्राय से भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों के लिए पृथिवी शब्द का प्रयोग है।

* पहले उसका काम सूक्ष्म सृष्टि में था, अब जब स्थूल सृष्टि हुई, तो उस का काम इस में आया, यह गोला घूमने लगा, दीप्त हुआ प्रचंड हुआ और इस से अग्नि प्रकट हुई। अश्वमेध का अग्नि जिस को अर्क कहते हैं, वह इसी ब्रह्माण्डी अग्नि का व्यष्टि रूप है। इस सारे ब्राह्मण का उद्देश्य उस अग्नि (अर्क) का वास्तव स्वरूप वर्णन करने में है।

† जब अग्नि, वायु और आदित्य तीनों त्रिलोकी में विभक्त हुए, तो तीनों ने अपनी २ महिमा से उसी अन्तरात्मा की महिमा का प्रकाश किया। आदित्य के अन्दर रह कर वही जगत् को प्रकाश देता है, और वायु के अन्दर रह कर वही प्राणों की रक्षा करता है, और वही फिर उस अग्नि में प्रकाशित है, जिस में यज्ञ करने वाला अपनी हवि देता है॥

है। उस का, पूर्व की दशा सिर है, वह और वह (अर्थात् उत्तरपूर्व और दक्षिणपूर्व) दोनों भुजाएं हैं। और इस की, पश्चिम दिशा पूंछ है, और वह और वह (उत्तर पश्चिम और दक्षिण पश्चिम) रानें हैं। दक्षिण और उत्तर (दिशा) पासे हैं, द्यौ पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, यह (अर्थात् पृथिवी) छाती है* सो यह (विराट् अग्नि) जलों में प्रतिष्ठित है† वह, जो इस (रहस्य) को जानता है, वह जहां कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठा पाता है॥

सोऽकामयत द्वितीयो मे आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳसमभवदशनाया मृत्युः। तद् यद् रेत आसीत् स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस। तमेतावन्तं कालमबिभः, यावान् संवत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जात मभिव्याददात् स भाणकरोत् सैव वागभवत्॥ ४॥

‡ उस ने चाहा "मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो" इस

---

* प्रथम ब्राह्मण में अश्व को विराट् वर्णन किया है। यहां अग्नि (अर्क) को विराट् वर्णन किया है॥

† यह स्थूलसमष्टि रूप विराट् जलों में अर्थात् सूक्ष्म समष्टि (हिरण्यगर्भ) में ठहरा हुआ है॥

‡ मृत्यु, जिस ने पहले जल, पृथिवी और अग्नि आदि को अपना शरीर उत्पन्न किया है। अब उस ने चाहा, मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो, जो बरस या बरस भर का यज्ञ है। बरस सूर्य के अधीन है और सूर्य की उत्पत्ति पहले कह दी है।

निमित्त से वह मन द्वारा (अपने) जोड़े वाणी के साथ संगत हुआ * भूख मृत्युः । तब जो बीज था, वह बरस बन गया। उस से पहले बरस नहीं था । (वाणी ने) उस को उतना काल (गर्भ) में धारण किया, जितना बरस है। उस को इतने काल के पीछे उत्पन्न किया। जब वह उत्पन्न हुआ, तो (मृत्यु ने) उस की तर्फ मुंह खोला । उस ने (भाण) शब्द किया, वही वाणी (आवाज़) हुई ॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये, कनीयोऽन्नं करिष्य इति । स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूꣳषि सामानि च्छन्दाꣳसि यज्ञान् प्रजाः पशून् । स यद्यदेवासृजत, तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

उस ने सोचा 'यदि मैं इस को मारता हूं, तो थोड़ा सा अन्न बनाउंगा (अन्न होगा)' तब उसने उस वाणी के साथ†

---

* वाणी के साथ संगत हुआ, इस से तात्पर्य है, कि वेद में जो सृष्टि का क्रम अनादि से विधान किया हुआ है, उस का ध्यान किया (शंकराचार्य) ।

† उस वाणी से तात्पर्य वेदरूप वाणी है। और आगे जो इसी से वेदों की उत्पत्ति कही है, उस का तात्पर्य यह है, कि पहले वेद अव्यक्त (अप्रकट) थे, फिर व्यक्त हुए (शंकराचार्य), वाणी से अभिप्राय विराट् की वाणी-भाण् शब्द है।

उस शरीर (=संवत्सर) से उस सब को रचा, जो कुछ यह ऋचाएं, यजु, साम, छन्द, यज्ञ मनुष्य और पशु है। उस (मृत्यु) ने जो २ कुछ रचा, उस को खाने लगा। निःसंदेह वह सब कुछ खा जाता है, यह अदिति का अदितिपन है—(वह सब कुछ खा जाता है, इस लिए मृत्यु को अदिति कहते हैं)। वह इस सब का खाने वाला होता है, और सब उस का अन्न होता है। जो इस प्रकार अदिति के अदितिपन को जानता है॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशोवीर्यम्। तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत, तस्य शरीर एव मनआसीत्॥ ६॥

उसने चाहा "एक बहुत बड़े यज्ञ से फिर यजन करूं" उस ने श्रम किया और उस ने तप तपा। जब वह श्रम कर चुका और तप तप चुका, तो उस का यश वीर्य (उस से) निकल गया, निःसंदेह यश वीर्य प्राण * है। प्राणों के निकल जाने पर (उस का) शरीर फूलने लगा। उस का मन (ध्यान) शरीर में ही लगा रहा॥

उस वाणी से वेदों को रचा और विराट् के शरीर से मनुष्य और पशुओं को रचा (सुरेश्वराचार्य)।

* प्राण से इन्द्रिय और प्राण दोनों अभिप्रेत हैं। इन्द्रियां ही शरीर के यश और बल हैं।

सोऽकामयत, मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति । ततोऽश्वः समभवद् यदश्वत्, तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याऽश्वमेधत्वम् । एष हवा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून् देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात् सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते । एष हवा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेव । अपपुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७ ॥

उस ने चाहा "यह मेरा (शरीर) मेध्य (यज्ञ के योग्य) हो जाए, इस से मैं शरीर वाला होऊं "। इस लिए तो वह अश्व हुआ, कि वह फूल गया था (अश्वत्) । (और अब) वह यज्ञ के योग्य (मेध्य) हुआ । यह अश्वमेध का अश्वमेधत्व है । निःसंदेह, यह पुरुष अश्वमेध को जानता है, जो इस (रहस्य) को इस प्रकार जानता है । (अब) उस (अश्व) को उस ने बिना रोके हुए (आज़ाद, खुला) ख्याल किया । उस को, बरस के पीछे अपने लिए भेंट किया, (और दूसरे) पशुओं को देवताओं को दिया । इस लिए (.अब भी यज्ञ करने वाले) पवित्र किये हुए (जल छिड़के हुए) प्रजापति सम्बन्धी (अश्व) को सब देवताओं के अर्पण करते हैं । निःसंदेह यह है अश्वमेध, जो यह चमकता है (तपता है=सूर्य) और बरस उस का शरीर है ।

यह अग्नि (व्यापक वैश्वानर) यज्ञ का अग्नि (अर्क) है, और ये लोक उस का शरीर हैं, सो यह दोनों अर्क और अश्वमेध (यज्ञ) हैं। और वह फिर एक ही देवता है-मृत्यु ही। (जो इस रहस्य को जानता है) वह मृत्यु को भांज (शिकस्त) दे देता है। मृत्यु उस को नहीं पकड़ता, मृत्यु इस का आत्मा हो जाता है। वह इन देवताओं में से एक होता है * ॥

---

* यहां ४-७ का अर्थ लिख दिया है। यहां के हर एक रहस्य को प्रकाश करना कठिन है। समस्त तात्पर्य यह है, (४) कि जब तीनों लोक अलग हुए, और इन में वह पहली क्रिया बराबर रही। पृथिवी पर सूर्य चमका और ऋतु बदलने लगे। वह बरस हुआ। (५) यदि यह विराट् इस से अगली सृष्टि उत्पन्न हुए बिना ही लीन हो जाता, तो यह बहुत थोड़ी सृष्टि होती, और सृष्टि रचने का प्रयोजन अधूरा रहता। इस लिए सृष्टि आगे बढ़ी और इस पृथिवी पर मनुष्य और पशु, यज्ञ और वेद प्रकट हुए। जो कुछ यह उत्पन्न हुआ है, यह सब उस मृत्यु से हुआ है और उसी में लीन होगा, (६) अब दूसरी कल्पना इसी विराट् में एक बड़े यज्ञ (अश्वमेध) की कीगई है। जब तक आत्मा के साथ प्राण इस शरीर में हैं, शरीर में महिमा है कान्ति है और बल है। जब आत्मा इस को छोड़ता है, प्राण छोड़ देते हैं। यह मुर्दा हो जाता है और फूल जाता है। इसी प्रकार इस विराट् में जो आत्मा है, उस के साथ ही इस की महिमा है, उस के साथ ही इस का बल है, आत्मा इस से अलग हुआ (कल्पना है) तो प्राण अलग हुआ, यह मुर्दा हुआ और फूल गया (७) जिस लिए यह फूल गया

तीसरा ब्राह्मण (उद्गीथ ब्राह्मण) *

संगति—शरीर में प्राण का महत्व दिखला कर प्राण सदृश जीवन धारने का उपदेश देते हैं ।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा

(अश्वत्) इस लिए इस विराट् का नाम अश्व है । और जिस लिए उस के प्रवेश करने से फिर पवित्र हो गया, इस लिए यह यज्ञ के योग्य (मेध्य) है । इसी मेध्य अश्व को पहले (१।२। में विराट् रूप दिखला आए हैं । इस विराट् में वही व्यापक है मृत्यु । और यह एक २ देवता उसी के अंग हैं यह विराट् सब कुछ उसी अन्तरात्मा की भेंट करता है जो वर्ष के भिन्न २ ऋतुओं में इस में उत्पन्न होता है । वसन्त इस का आज्य (घी) है गर्मी इन्धन है और शरत् (असूज, कार्तिक) हवि है (ऋग्० १० । ९० । ६) हां यह समष्टि जगत् अपनी उपज समेत अपने आप को उस की भेंट करता है। और ये पृथिवी आदि अपनी २ उपज समेत अपने २ देवता की । इस अश्वमेध का अग्नि यही है जो यह वैश्वानर सारे व्यापक है और त्रिलोकी जिस का शरीर है और यही चमकता हुआ सूर्य अश्वमेध है । वस्तुतः यह एक ही देवता है वही मृत्यु है । वही समष्टि में है, वही व्यष्टि में है । उसी से यह जगत् बाहर आता है और उसी में लीन होता है । वही इसके लिए प्राण है, वही इसके लिए मृत्यु है । यह मृत्यु का भी मृत्यु है । जो इसको पहचान ले, मौत उससे दूर भाग जाए, या यूं कहो कि मृत्यु इस का अपना आप बन जाए और यह अमर हो कर द्यौ लोक में देवता की तरह चमके ।

* यह तीसरा ब्राह्मण उद्गीथ ब्राह्मण कहलाता है ।

एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त, ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

प्रजापति की सन्तान दो भागों में विभक्त हुई देवता और असुर। उन में से देवता छोटे थे, और असुर बड़े। वे इन लोकों के विषय में एक दूसरे से आगे बढने की दौड़ धूप में लगे। उन में से देवताओं ने कहा, हां, यज्ञ में उद्गीथ * के द्वारा असुरों से हम आगे बढ़ सकेंगे।

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति, तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ २ ॥

उन्हों ने वाणी को कहा " तू हमारे लिए उद्गीथ गा " तथास्तु कह कर वाणी ने उन के लिए उद्गीथ गाया। जो वाणी में भोग है, उस को उस ने देवताओं के लिए गाया, और जो अच्छा बोलना है वह अपने लिए। उन्हों ने [असुरों

माध्यन्दिन शाखा की उपनिषद् यहां से आरम्भ होती है।

* उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओ३म् से आरम्भ होता है। उद्गाता इस को सोमयज्ञ में गाता है। सोम यज्ञ सात हैं-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। ये ही सात यज्ञ सोम की सप्त संस्था हैं। (देखो आश्वालायन श्रौ० सू० अध्याय ६)।

ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे, इस लिए उस पर धावा करके (उस को) बुराई (पाप) से वींध दिया। वह, जो, वह बुराई है । वह यही बुराई है जो २ यह अयोग्य बोलना (झूठ, द्रोह, असभ्य, कठोर बोलना) है ॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति । तेभ्यः प्राण उद्गायद् । यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदम-प्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

तब (देवों ने) सांस (घ्राण) को कहा " तू हमारे लिए उद्गीथ गा " " तथास्तु " कह कर सांस ने उन के लिए उद्गीथ गाया। जो सांस में भोग है, उस को उस ने देवताओं के लिए गाया और जो अच्छा सूंघना है वह अपने लिए। उन्हों ने (असुरों ने) समझा, निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे। इस लिए उस पर धावा करके उस को पाप से वींध दिया। वह, जो, वह पाप है, वह यही पाप है, जो यह अयोग्य सूंघना है ॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षु-रुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । त विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति

तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४ ॥

तब उन्हों ने नेत्र को कहा, "तू हमारे लिए उद्गीथ गा" "तथास्तु" कह कर उस ने उन के लिए उद्गीथ गाया। (असुरों) ने समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे, इस लिए (उस पर) धावा करके उस को पाप से वींध दिया। वह जो वह पाप है, यही वह पाप है जो यह अयोग्य देखना है।

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद् यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति, तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥

तब उन्हों ने श्रोत्र (कान) को कहा, "तू हमारे लिए उद्गीथ गा" 'तथास्तु' कह कर उसने उन के लिए उद्गीथ गाया। जो श्रोत्र में भोग है, वह उस ने देवताओं के लिए गाया और जो अच्छा सुनना है, वह अपने लिए। (असुरों ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे इस लिए धावा करके उस को पाप से वींध दिया। वह, जो, वह पाप है यही वह पाप है। जो २ यह अयोग्य सुनना है ॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्। यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य अगायद् यत् कल्या-

ण॑संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्ये-ष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा, यदेवेदमप्रतिरूप॑संकल्पयति स एव स पाप्मा। एवमु खल्वेता देवता पाप्मभिरुपासृजन्नेवमनाः पाप्मनाऽविध्यन् ६

तब उन्होंने मन को कहा "तू हमारे लिए उद्गीथ गा" "तथास्तु" कह कर मन ने उन के लिये उद्गीथ गाया। जो मन में भोग है उस को देवताओं के लिये गाया, जो अच्छा संकल्प (ख्याल) है, उस को अपने लिये। (असुरों ने) समझा इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे। उन्हों ने धावा करके उस को पाप से बींध दिया। वह जो वह पाप है, यही वह पाप है। जो यह अयोग्य संकल्प करना है। इस प्रकार उन्हों ने इन देवताओं को बुराइयों से मिला दिया इस प्रकार उन्हों ने इन देवताओं को बुराई से बींधा॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति। तेभ्य एष प्राण उदगायद्, ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्ये-ष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन् स यथाऽश्मान-मृत्वा लोष्टो विध्व॑सेतैव॑हैव विध्व॑समाना विष्वञ्चो विनेशुः। ततो देवा अभवन् पराऽसुराः। भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति, य एवं वेद॥ ७॥

तब उन्हों ने यह जो मुख में प्राण है, इस को कहा "तू हमारे लिये उद्गीथ गा" 'तथास्तु' कह कर प्राण ने उन के लिये उद्गीथ गाया। उन (असुरों) ने समझा, इस

उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे । (उस पर) धावा करके उस को पाप से बींधना चाहा। पर जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को लग कर चूर २ हो जाए, ठीक इसी तरह वे (असुर) चूर २ होते हुए चारों ओर नष्ट हुए । तब देवता बढ़े और असुर हारे । जो इस रहस्य को ठीक २ समझ लेता है, वह स्वयं बढता चला जाता है, और इस का शत्रु जो इस से द्वेष करता है, हारता है।

भाष्य—इस तीसरे ब्राह्मण में यह सारा वर्णन एक आख्यायिका की रीति पर लिखा है। अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य के अन्दर दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं। एक वे जो धर्म और परोपकार की वृत्तियां हैं, और दूसरी पाप और स्वार्थ की। इन्हीं वृत्तियों को गीता अध्याय १६ में दैवी और आसुरी संपद कहा है। यही देवता और असुर हैं। ये वृत्तियां इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं, इस लिये इन्द्रियों को देव और असुर कहते हैं । जो वृत्तियें स्वार्थ की हैं, वे मनुष्य के साथ ही जन्म लेती हैं, इस लिये वे बड़ी हैं। पर धर्म और परोपकार की वृत्तियां जन्म के बहुत पीछे शास्त्र के अभ्यास और आचार्य के प्रसाद से, उत्पन्न होती हैं, इस लिये वे छोटी हैं । स्वार्थ की वृत्तियां यूं भी अधिक हैं, लोक में प्रायः इन्हीं का राज्य है, ऐसी जगह बहुत थोड़ी हैं, जहां केवल शास्त्रीय वृत्तियों का ही अधिकार है । जब मनुष्य पर शास्त्र की सचाई अपना प्रभाव डालती है, तब धर्म और परोकार की वृत्तियां उदय होती हैं. और वे पाप और स्वार्थ की वृत्तियों को दबा लेना चाहती हैं। दूसरी ओर आसुरी वृत्तियां दैवी वृत्तियों को निकालना चाहती हैं । यही देवता और

असुरों की स्पर्धा है, यही देवासुर संग्राम है ।

स्वार्थ की वृत्तियां किस तरह दबती हैं और परोपकार की वृत्तियां किस तरह प्रबल बनती हैं, इस के लिये जो उपाय देवताओं ने ढूंढा वह यज्ञ था । क्योंकि स्वार्थी जीवन को परमार्थी बनाने वाला, व्यष्टि जीवन को समष्टि के साथ सम्बद्ध करने वाला उपाय यज्ञ के तुल्य और कोई नहीं, अतएव देवों ने ज्योतिष्टोम यज्ञ आरम्भ किया ।

अब उद्गाता का काम किस को सौंपना चाहिये, उद्गाता यजमान की कामनाएं पूरा होने के लिये उद्गीथ गाएगा । अर्थात् उद्गीथ गाकर उद्गीथ के देवता * से वर मांगेगा । यहां यजमान देवता हैं, वे क्या वर चाहते हैं ? वे चाहते हैं, कि परोपकार बढ़े और स्वार्थ गिरे । उनको ऐसा उद्गाता चाहिये, जिस का जीवन परोपकारमय हो । क्योंकि यजमान के लिये उसी ऋत्विज् की प्रार्थना फल लाएगी, जो आप उसी रंग में रंगा हुआ है ॥

---

* उद्गीथ का देवता परमात्मा है । छान्दोग्य (१ । ८) में उद्गीथ में कुशल तीन ऋषियों का संवाद दिया है, जहां अन्त में जैवलि प्रवाहण ने इस बात को सिद्ध किया है, कि उद्गीथ आकाश है. वह आकाश जो सब से बड़ा, सब के लिए शरण लेने योग्य, रचने वाला और प्रलय करने वाला है । ऐसा आकाश परमात्मा ही है । " आकाशस्तल्लिङ्गात् " (ब्रह्मसूत्र १ । १ । २२) इस सूत्र में इस आकाश का अर्थ ब्रह्म सिद्ध किया है । और छान्दोग्य के आरम्भ में भी उद्गीथ को 'ओ३म्' बतलाया है ॥

इस लिए उन्हों ने एकमति हो कर वाणी को कहा, कि तुम हमारे लिये उद्गाता बनो, उस ने स्वीकार किया, और जो कुछ उस ने किया, दूसरों की भलाई के लिये किया। व्यवहार सारे बाणी से चलते हैं, पर फल उनका सारे इन्द्रियों को होता है, बाणी अकेली नहीं भोगती।

जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है, और अपने प्रभु की आज्ञा मान कर करता है तो कोई वस्तु उस को अपने कर्त्तव्य से नहीं गिरा सकती। और न वह उस में लिप्त होता है । आज उस को प्रभु का आदेश होता है, कि तुम यह काम करो, वह उस में लग जाता है, कल उस को दूसरा आदेश मिलता है, कि वह काम करो । वह झट उसी में लग जाता है । और यदि वह ऐसा नहीं समझता, और उस कर्त्तव्य के पालन में अपनाइष्ट अनिष्ट सोचने लगता है, तो जिधर उस को स्वार्थ खींच ले जाता है, वह उधर मारे २ फिरता है । बस बाणी में यह दोष आगया, उस ने अच्छा बोलने का फल तो सब देवों को दिया, पर उस ने अच्छा बोलना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा, उस को अपना यश बना लिया । जूं ही यह स्वार्थ उस में आया, असुरों ने झट उस को बुराई से जकड़ दिया। अब वह स्वार्थ के अधीन झूट छल कपट द्रोह सब कुछ करने लगी । यदि बाणी अपना कर्त्तव्य समझ कर बोलती, तो वह उस के विरुद्ध न बोलती, जो उस के मालिक का आदेश था। पर बाणी ने ऐसा नहीं किया। फिर जो दशा बाणी की हुई वही शेष सारे इन्द्रियों की हुई। इस लिए उन में से किसी को भी उद्गाता के काम में सफलता प्राप्त न हुई। अन्ततः एक देवता चुना गया, जो इस काम में पूरा

निकला । देवताओं ने प्राण को उद्गाता चुन लिया । सचमुच यह बड़ा योग्य उद्गाता है। दिन रात अपने कर्त्तव्य में लगा है, सब इन्द्रिय सो जाएं, यह जागता है । रोगग्रस्त हो कर मनुष्य दिनों तक बेहोश रहे, यह अपना काम बराबर किये जाता है। यह अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है, क्या मजाल है, कि कभी उस में चूक हो जाए । इस का काम सब को जीवन देना है, यह सब का जीवन है और आप जीवनरूप है। असुरों ने तो इस पर भी धावा किया, पर यहां कोई स्वार्थ की रेखा न थी। जिस में स्वार्थ का नाम नहीं, जो अपने मालिक की आज्ञा पर दृढ़ है, उस को असुर क्या बहकाएंगे । अतएव असुर इस पर धावा करके इस तरह नष्ट हुए, जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को फोड़ने लगे, तो वह आप ही चूर २ हो जाए। इस प्रकार यह आख्यायिका बतलाती है, कि तुम इस जगत् में, इस तरह काम करो, जिस तरह शरीर में प्राण काम करता है। तुम प्राण का व्रत धारण करो, जो कभी अपने कर्त्तव्य में प्रमाद नहीं करता, उस वाणी का व्रत मत धारण करो, जिस को स्वार्थ अपने कर्त्तव्य से गिरा देता है । प्राण की न्याईं दूसरों के लिए जीवन बनो, न कि वाणी की न्याईं दूसरों पर अपने जीवन का निर्भर रक्खो । और इस तरह आसुरी वृत्तियों को जीत कर धर्म का राज्य फैलाओ * ॥

* यह आख्यायिका छान्दोग्य (१।२) में भी है । और इसी आख्यायिका के आधार पर एक बड़ा सुन्दर नाटक प्रबोधचन्द्रोदय रचा गया है। और इसका अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है, जो गुरुमुखी अक्षरों में भी मिलता है।

इस के आगे प्राण के विषय में ही और कई एक पवित्र गुणों का उपदेश किया है, मनुष्य को चाहिये कि प्राण का व्रत धारण करता हुआ इन गुणों को भी धारण करे—

ते होचुः, क नु सोऽभूद्, यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्ये ऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसो अंगानां हि रसः ॥८॥

उन्हों ने (देवों ने) कहा, " कहां है वह " जिस ने हमें इस प्रकार अपने साथ मिला लिया (उन्हों ने कहा) "यह मुख में अन्दर है " इस लिए वह प्राण अयास्य * (कहलाता) है और जिस लिए यह अंगों का रस (सार) है, इस लिए आंगिरस है ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम, दूरं ह्यस्या मृत्युः; दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

---

* " अयम् आस्ये " से ' अयास्य ' बना है। अर्थ यह है। अयम्=यह आस्ये=मुंह में । इन्द्रियों ने कहा, यह मुंह में है इस लिए प्राण का नाम अयास्य है। इसी प्रकार यह अंगों का रस है क्योंकि प्राणों के निकल जाने पर देह सूख जाता है, जैसा कि आगे (१९ खण्ड में) कहेंगे । इस लिए प्राण का नाम आंगिरस है । अर्थात् अंग+रस से आंगिरस बना है। इसी प्रकार आगे २ जो नाम दिये हैं, उन के विषय में भी जानना चाहिये । यहां अयास्य और आंगिरस आदि जो प्राण के नाम दिये हैं, यह उन २ ऋषियों के नाम पर हैं, जिन्हों ने प्राणोपासना से अपने जीवन को प्राण के रंग में रंग दिया था ॥

वह देवता (प्राण) दूर नाम है । क्योंकि मृत्यु इस से दूर है । जो इस (रहस्य) को समझता है मृत्यु उस से दूर रहता है ॥ ६ ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयां चकार, तदासां पाप्मनो विन्यदधात्, तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्यु मन्ववयानीति ॥ १० ॥

उस देवता (प्राण) ने इन देवताओं (इन्द्रियों) के पाप को-जो कि मृत्यु है-दूर हटा कर, जहां इन दिशाओं का किनारा है, वहां पहुंचा दिया, वहां इनके पापों को रख दिया । इस लिए चाहिये कि कोई पुरुष (उस) पुरुष (किनारे के रहने वाले) की तरफ न जाए, न किनारे की तरफ जाए । (इस डर से कि) न हो कि पाप जो मृत्यु है उस से युक्त हो जाऊं ॥ १० ॥

भाष्य-इससे प्रतीत होता है, कि उस समय जो लोग धर्म से पतित हो जाते थे, उन को शहर से बाहर दूर रहने को जगह मिलती थी । और मनुष्य का जैसा कि स्वभाव है, वे सब आपस में मिल कर रहते थे । उपनिषद् बतलाती है, कि मृत्यु मृत्यु नहीं, किन्तु मृत्यु यही है, जो पाप में फंसना है । यदि तुम मृत्यु से बचना चाहते हो, तो तुम्हें चाहिये, कि जो लोग धर्म से पतित हैं, उन में जाकर न मिलो, न उन के रहने की जगह पर रहो । ऐसा न हो, कि पाप जो उन के स्वभाव में है, वह तुम्हें भी लग जाए । सो तुम सदा उन्हीं की संगति में

रहो, जो जितेन्द्रिय हैं । और उन्हीं के निवास में अपना निवास करो ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युम पहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥११॥ स वै वाचमेव प्रथमा मत्यवहत्, सा यदा मृत्यु मत्युमुच्यत सो ऽग्निरभवत् । सो अय मग्निः परेण मृत्यु मतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

अब वह देवता इन देवताओं के पाप रूपी मृत्यु को दूर हटा कर इनको मृत्यु से पार लंघा लेगया ॥११॥ वह पहले पहल बाणी को ही लंघा लेगया । जब वह मृत्यु से छूट गई, (मुक्त हो गई) तो यह अग्नि हो गई (जो कुछ कि पहले थी) । सो यह अग्नि मृत्यु से परे पहुंचा हुआ चमकता है ॥ १२ ॥

अथ प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्यमुच्यत, स वायुरभवत्, सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तो पवते । १३।

तब उस ने प्राण को लंघाया । वह (प्राण=घ्राण) जब मृत्यु से मुक्त हुआ वह वायु हो गया । वह वायु मृत्यु से परे पहुंचा हुआ पवित्र करता है ॥ १३ ४

अथ चक्षुरत्यवहत् । तद् यदामृत्युमत्यमुच्यत, स आदित्योऽभवत् । सो ऽसावादित्यः परेण मृत्युम तिक्रान्ततपति ॥ १४ ॥

तब उस ने नेत्र को लंघाया । वह जब मृत्यु से मुक्त

हुआ, तो वह आदित्य (सूर्य्य) हो गया । सो वह आदित्य मृत्यु से परे पहुंचा हुआ तपता है ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्र मत्यवहत्, तद् यदा मृत्युमत्यमुच्यत, ता दिशोऽभवंस्ताइमा दिशः परेण मृत्यु मतिक्रान्ताः ॥१५॥

तब उसने श्रोत्र (कान) को लंघाया। जब श्रोत्र मृत्यु से मुक्त हुआ, तो वह दिशाएं हो गया । वे यह दिशाएं हैं, मृत्यु से परे पहुंची हुई ॥ १५ ॥

अथ मनो ऽत्यवहत् । तद् यदा मृत्युमत्यमुच्यत, स चन्द्रमा अभवत्, सो ऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भाति, एवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति, य एवं वेद ॥ १६ ॥

तब वह मन को लंघा लेगया। जब मन मृत्यु से मुक्त हुआ, तो वह चन्द्रमा हो गया। सो वह चन्द्रमा मृत्यु से परे पहुंचा हुआ चमकता है । जो इस (रहस्य) को जान लेता है, यह देवता (प्राण) निःसंदेह इसी प्रकार उस को भी मृत्यु से पार ले जाता है * ।

इन का आशय यह है, कि मृत्यु यही है, कि वह वस्तुएं जो अपने तत्त्व से अलग हो कर अपना भिन्न नाम रूप रखती

* इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो पाप उत्पन्न होता है, वह पुरुष उस पाप में नहीं फंसता, जो यह जान लेता है, कि जैसे आग हाथ को जला देती है, निःसन्देह इसी प्रकार इन्द्रियों के पाप इन्द्रियों को मृत्यु की ओर ले जाते हैं ।

हैं, (जैसे सोने के कुण्डल सोने की डली से अलग रूप और अलग नाम रखते हैं) । उन का मृत्यु से पार होना यही है कि वे अपने बनावटी नाम रूप को छोड़ देती हैं। पर मूल तत्व में कोई भेद नहीं आता। क्योंकि यह उस अवस्था में, जब इन के नाम रूप अलग हैं, तब भी वही तत्व हैं । अन्त में भी वही तत्व रहेंगे। उन के तत्व में कुछ भेद नहीं आएगा, इस लिए मृत्यु केवल अवस्था बदलने का नाम है। इसी प्रकार इन्द्रियों के लिए भी कोई मृत्यु नहीं है, वे जिन तत्वों से अलग हुई हैं, अब भी उन्हीं का रूप हैं, और फिर भी उन्हीं का रूप बन कर रहेंगी । उन के लिए कोई मृत्यु नहीं, सिवाय इस के, कि ये पाप में फंसें । यदि इन को इस मृत्यु से बचा लिया जाए, तो ये मरेंगी नहीं, बल्कि अपने असली रूप को धारण करके चमकेंगी । और वह असली रूप बाणी का अग्नि है, सांस का वायु, नेत्र का आदित्य, श्रोत्र का दिशाएं और मन का चन्द्रमा है। और इसी लिए विराट् के वर्णन में इन पदार्थों को इन्द्रियों का रूप वर्णन किया है (देखो ऋ० १० । ६० १३-१४) ।

संगति—अब जब प्राण असुरों के घात से बचा रहा और उस ने दूसरे देवताओं (इन्द्रियों) को भी बचा लिया, तो वह उद्गीथ गाने लगा—

अथाऽऽत्मने ऽन्नाद्यमागायद् । यद्धिकिंचान्नमद्यते ऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

तब (प्राण ने) अपने लिए खाने योग्य अन्न को गाया । क्योंकि जो कुछ अन्न खाया जाता है, केवल प्राण से

ही वह खाया जाता है, और यहां (देह में) वह ठहरता है। अर्थात् प्राण ने वाणी आदि की नाईं अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कुछ नहीं किया, किन्तु उस ने जो कुछ अपने लिए किया (अन्न को अपने लिए बनाया) यह इस लिये किया, कि वह इस शरीर में रह सके और इस तरह पर वह शेष इन्द्रियों को जीवन दे सके।

ते देवा अब्रुवन् "एतावद्वा इदꣳसर्वं यदन्नं, तदात्मन आगासीः, अनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्व" इति "ते वै माऽभिसंविशत" इति "तथेति" तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त, तस्माद् यदनेनाऽन्नमत्ति, तेनैतास्तृप्यन्ति। एनꣳस्वा अभिसंविशन्ति, भर्ता स्वानाꣳश्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद। य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति, न हैवालं भार्य्येभ्यो भवति। अथ य एवैतमनु भवति, योवैतमनु भार्यान् बुभूर्षति, स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥१८॥

वे देवता बोले, "इतना ही तो यह सब है, जो कि अन्न है (अर्थात् अन्न ही जगत् में सब से बड़ी वस्तु है, जिस के सहारे जीवन है) उस को तूने अपने लिए गाया है (=गाकर अपने लिए लाभ किया है) हमें भी इस अन्न में हिस्सा दो"। (उस ने कहा) "तुम सारे मुझ में प्रवेश कर जाओ" (उन्हों ने कहा) "बहुत अच्छा" और वे उस में चारों ओर प्रवेश कर गए। इस लिए (मनुष्य) जब प्राण से अन्न खाता है, तो उस (अन्न) से यह (देवता

तृप्त होते हैं । जो इस प्रकार (इस रहस्य) को जानता है, इसी प्रकार अपनी ज्ञाति (कौम) के लोग उस के पास आते हैं (अपनी जीविका के लिए) जैसे कि प्राण के पास इन्द्रिय अपने जीवन के लिए, आए) और वह (पास आए) अपने लोगों का पालने वाला होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का पालने वाला है) वह (अपने लोगों का) सब से उत्तम आगे चलने वाला (लीडर=नेता) होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का है) । वह बड़ा दृढ़ * (मज़बूत) मालिक होता है । और जो अपने लोगों में से इस (रहस्य) के जानने वाले के रस्ते में रुकावट डालता है † वह कभी भी अपनों को पुष्ट करने के योग्य नहीं होता (अर्थात् और कोई भी पुरुष इस के बराबर अपनी ज्ञाति का सहायक नहीं बन सकता) । पर वह जो इस के पीछे लगता है (अनुयायी बन जाता है) या जो इस के पीछे लग कर पालन पोषण करने योग्यों का पालन पोषण करना चाहता है, वही पालने योग्यों (अपनी ज्ञाति के लोगों) के लिए योग्य होता है ॥

सो ऽयास्य आंगिरसोऽङ्गानाᳬहि रसः । प्राणो वा अंगानाᳬरसः, प्राणो हि वा अंगानाᳬरस स्तस्माद् यस्मात्

---

* अन्नादः का अर्थ है अन्न खाने वाला अर्थात् रोगों से बचा हुआ=मज़बूत ॥

† अक्षरार्थ यह है, कि मुकाबिला करने वाला बनना

कस्माच्चांगात् प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अंगानाꣳरसः ॥ १८ ॥

वह अयास्य आंगिरस (कहलाता) है, क्योंकि वह अङ्गों का रस है । प्राण अङ्गों का रस है । प्राण जिस लिए अङ्गों का रस है, इसी लिए जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है, वहीं वह सूख जाता है, (नीरस हो जाता है) क्योंकि यह अङ्गों का रस है ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

यही बृहस्पति भी है, क्योंकि वाणी बृहती (ऋचाएं है) और यह उस का पति है, इसलिए बृहस्पति है ॥२०॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

यही ब्रह्मणस्पति भी है, क्योंकि वाणी ब्रह्म (यजु) है, उस का यह पति है, इस लिए ब्रह्मणस्पति है ॥२१॥

भाष्य—यहां बृहती को भी वाणी और ब्रह्म को भी वाणी ही कहा है, तथापि आगे प्राण को साम कहा है, इस लिए यहां बृहती से ऋचाएं और ब्रह्म से यजु ही लेना चाहिये । यदि यह तात्पर्य्य न हो, तो बृहस्पति भी वाणी का पति और ब्रह्मणस्पति भी वाणी का पति इन दोनों में कुछ भेद नहीं रहता । केवल प्राण के बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति ये दो नाम बतलाने में तात्पर्य्य नहीं, किन्तु दोनों नामों द्वारा दो भिन्न २

धर्म दिखलाने में तात्पर्य है । सो इन दोनों नामों से ऋचा और यजु का उच्चारण प्राण के अधीन बतलाया है। अन्यत्र भी ऋचा, यजु, साम और उद्गीथ इसी क्रम से आते हैं, इस लिए यहां बृहती से ऋचा और ब्रह्म से यजु ही अभिप्रेत हैं ॥

एष उ एव साम। वाग्वै साऽमैष साचामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव साम । अश्नुते साम्नः सायुज्यँ सलोकतां य एव मेतत् साम वेद।२२

यही (प्राण ही) साम भी है । बाणी 'सा' है और यह (प्राण) 'अम' है। 'सा' और 'अम' (ये दोनों मिल कर 'साम' है) यह साम का सामपन है * अथवा जिस लिए (प्राण) घुन के सम (बराबर) है। मच्छर के सम है, हाथी के सम है, इन तीनों लोकों के सम है, इस सब के सम है इसी लिए साम है। जो इस साम को जानता है, वह साम (प्राण) के सायुज्य और सालोक्य को भोगता है ॥२२॥

भाष्य-प्राण जीवन है, जहां प्राण है, वहां जीवन है, जहां जीवन है, वहां प्राण है । प्राण उस सब के बराबर है, जिस

---

* अर्थात् प्राण को साम इस लिए कहते हैं कि 'सा' बाणी और 'अम' प्राण है । प्राण बाणी का पति है, क्योंकि प्राण के अधीन बाणी बोलती है और यह भी, कि भिन्न २ स्थानों में प्राण (वायु) की टक्कर से ही भिन्न २ अक्षर बनते हैं ॥

में जीवन है, इस लिए वह एक छोटे से छोटे प्राणधारी के बराबर है और बड़े से बड़े प्राणधारी के बराबर है। ब्रह्म की सारी सृष्टि में उसकी प्रजा निवास करती है, वह सारी जीवन से भर रही है, इस लिए प्राण इस सारी सृष्टि के बराबर है॥

सम के अर्थ हैं बराबर और 'सम' से साम बन कर साम प्राण नाम है। जो प्राण के इस गुण को जानता है, वह प्राण के सायुज्य और सलोकता को भोगता है। सायुज्य=ज्यादा मेल, एकता। अर्थात् इस रहस्य को जानने वाला प्राण के साथ इस तरह एक हो जाता है, कि जैसे प्राण सब का जीवन देने वाला है, इसी प्रकार वह सब के लिए असली जीवन का देने बन जाता है। और सलोकता का अर्थ है, एक लोक में रहना। अर्थात् जैसे प्राण जीती जागती दुनियां में रहता है। इसी प्रकार इस रहस्य को पाने वाला भी जीती जागती दुनिया में निवास करता है। वह जिन में रहता है, उन को जीता जागता बना देता है और जीते जागतों में रहता है॥

एष उ वा उद्गीथः, प्राणो वा उत्प्राणेन हीद्ꣳसर्वमुत्तब्धं वागेव गीथा। उच्च गीथा चेति स उद्गीथः॥ २३॥

यह (प्राण) उद्गीथ भी है। निःसन्देह प्राण 'उत्' है क्योंकि प्राण से ही यह सब कुछ थमा हुआ है। और बाणी ही 'गीथा' (गीत) है 'उत्' और 'गीथा' यही (दोनों मिल कर) उद्गीथ है (बाणी प्राण के अधीन है, इस लिए प्राण उद्गीथ है क्योंकि उत् प्राण है और गीथा बाणी है) ॥२३॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाच "अयं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आंगिरसोऽन्येनोदगायद्" इति । वाचा च ह्येव स प्राणेन चोद्गायदिति ॥ २४ ॥

इस (विषय) में चैकितानेय (चिकितान के पोते) ब्रह्मदत्त ने सोम पान करते हुए कहा था, कि "यह सोम (राजा) उस के सिर को गिरादे, यदि अयास्य आंगिरस ने इस (प्राण) से बिना किसी दूसरे से (उद्गीथ) गया है" क्योंकि उस ने बाणी से और प्राण से ही गाया था ॥ २७ ॥

भाष्य-पिछले चार खण्डों में यज्ञ के योग्य बाणी के प्रसिद्ध चारों भेद अर्थात् ऋचा, यजु, साम और उद्गीथ, का रूप प्राण को वर्णन किया है । और वास्तव में ऋचा, यजु, साम और उद्गीथ इन का केवल उच्चारण ही प्राण के अधीन नहीं, किन्तु ये उच्च जीवन के देने वाले भी हैं। जो धर्म प्राण का है, वह धर्म इन का है, इस लिए प्राण ही ऋचा, प्राण ही यजु, प्राण ही साम और प्राण ही उद्गीथ है । इन चारों खण्डों में प्राण को जो नाम दिये हैं, उन में बाणी का सम्बन्ध साथ पाया जाता है । इस २४ वें खण्ड में इसी बात को ब्रह्मदत्त के वचन से सिद्ध किया है ।

यह खण्ड किसी प्रसिद्ध विवाद की तर्फ इशारा करता है, जो विवाद किसी सोमयज्ञ में ब्रह्मदत्त उद्गाता के साथ दूसरे लोगों का हुआ । ब्रह्मदत्त ने यह शपथ की कि यदि अयास्य आंगिरस (मैं) ने प्राण के सिवाय किसी दूसरे से

गाया हो, तो मेरे लिए सोम पान का फल अमर होना न हो, किन्तु उलटा मृत्यु हो । सोम का फल अमर होना है, यह **"अपाम सोमममृता अभूम"** (ऋग्० ८ । ४८ । ३) " हम ने सोम पिया और अमर हो गए हैं ' में दिखलाया है ॥

यहां ब्रह्मदत्त ने अपने आप को अयास्य आंगिरस प्राण की समता के कारण कहा है। १।१।१६ में प्राण को अयास्य आंगिरस कह आए हैं ।

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं । तस्य वै स्वर एव स्वं, तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वर मिच्छेत्, तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽऽर्त्विज्यं कुर्यात् । तस्मा-द्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव, अथो यस्य स्वं भवति। भवति हास्य स्वं, य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

जो उस इस * साम के धन (मलकीयत) को जानता है, उस के पास धन होता है, निःसंदेह स्वर ही इस साम का धन है, इस लिए जो उद्गाता=साम गाने वाला (बन कर) ऋत्विज् का काम करना चाहता है, उस को अपनी बाणी में अच्छे स्वर की इच्छा करनी चाहिये । (फिर) वह उस

---

* उस इस, ये दोनों इकट्ठे बोले हुए शब्द उस की ओर इशारा करते हैं, जिस के विषय में पहले भी कुछ कह चुके हों और आगे फिर कहना हो । जैसे यहां सामगान का प्रसङ्ग आरहा है, और आगे फिर भी सामगान के विषय में ही शुद्ध और सुन्दर उच्चारण की रीति बतलानी है॥

वाणी से-जो स्वर की सम्पदा वाली है, ऋत्विज् का काम करने की इच्छा करे। यही कारण है, कि यज्ञ में लोग उस को अवश्य देखना चाहते हैं, जिस का अच्छा स्वर होता है, जैसा (उस को देखना चाहते हैं) जिस के पास धन होता है। निःसंदेह उसके पास धन होता है जो साम के इस धन (=स्वर) को जानता है ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद, भवति हास्य सुवर्णम्। तस्य वै स्वर एव सुवर्णं, भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

जो उस इस साम के सुवर्ण (सोने) को जानता है, निःसन्देह उस के पास सोना होता है। स्वर ही उस का सुवर्ण है। उसके पास सुवर्ण होता है, जो साम के इस सुवर्ण को जानता है * ॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद, प्रति ह तिष्ठति। तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा, वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयते 'अन्न' इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

जो उस इस साम की प्रतिष्ठा (सहारे) को जानता

---

* पहले खण्ड में स्वर को धन और इस खण्ड में स्वर को सुवर्ण कहा है। पर इन दोनों में कुछ भेद है खाली स्वर की मिठास साम का धन है और वर्णों (अक्षरों) के सुन्दर उच्चारण की मिठास सुवर्ण है। पहले कण्ठ की मिठास का प्रतिपादन है। और अब वर्णों के सौन्दर्य्य का ॥

है, वह निःसन्देह प्रतिष्ठित होता है। बाणी ही उस की प्रतिष्ठा है, क्योंकि बाणी में ही यह प्राण प्रतिष्ठित हुआ (सहारा पाया हुआ) गाया जाता है, कई कहते हैं कि अन्न में * (प्रतिष्ठित हुआ गाया जाता है) ॥ २७ ॥

संगति--पहले बतला आए हैं, कि उद्गाता ऐसा होना चाहिये, जो प्राण के सदृश धर्मों वाला हो। और २४—२७ खण्डों में यह बतलाया है, कि उस का स्वर मीठा हो, वर्ण स्पष्ट और सुन्दर हों, और वे वर्ण अपने २ स्थान और प्रयत्न से सहारा दिये गए हों। अब इस के आगे उद्गाता के लिए सामगान से पहले एक जप बतलाते हैं, उस के पीछे उद्गाता को साम गाना चाहिये, तब वह अपने वा यजमान के लिए जो कामनाएं गाएगा, वह सफल होंगी—

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः। स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति, स यत्र प्रस्तुयात्, तदेतानि जपेत्। "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति"। स यदाहाऽसतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत् सदमृतं, मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं माकुर्वित्येवैतदाह। तमसो

* सामगान की जड़ बाणी है, प्राण बाणी में आकर स्वर का रूप धारण करता है, इस प्रकार गाना प्राण का ही रूप है, और बाणी उस की जड़ है। दूसरा सिद्धान्त यह है, कि अन्न उस की जड़ है। शुद्ध और सात्विक अन्न के सेवन से स्वर में मधुरता और अन्तःकरण में पवित्रता आती है और पवित्र अन्तःकरण से की हुई प्रार्थनाएं सफल होती हैं।

मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं, मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह । मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र-तिरोहितमिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि, तेष्वात्मने ऽन्नाद्यमागायेत्, तस्माद् तेषु वरं वृणीत, यं कामं कामयेत्, तम् । स एष एवंविदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते, तमागायति । तद्धैतल्लोकजिदेव, न हैवालोक्य-ताया आशाऽस्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

अब यहां से पवमान मन्त्रों का अभ्यारोह है । प्रस्तोता ऋत्विज् साम आरम्भ करता है । जब वह आरम्भ करे, तब इन (यजु मन्त्रों) का जप करे * :-

" असत् (मिथ्या) से मुझे सत् की ओर लेजा । अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर लेजा । मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा"

जो वह यह कहता है, कि ' असत् से मुझे सत् की ओर लेजा ' असत् सचमुच मृत्यु है और सत् अमृत है । इस लिए

---

* (१) असतो मा सद्गमय (२) तमसोमाज्योतिर्गमय (३) मृत्योर्माऽमृतं गमय । ये तीन यजु हैं । उद्गाता, उद्गीथ गाने से पहले इन का जप करता है, यह जप उस समय करना चाहिये, जब प्रस्तोता ऋत्विज् साम गाना आरम्भ करता है । इस जप का नाम अभ्यारोह (चढ़ना) है, क्योंकि इस जप से उद्गाता निचले जीवन से ऊपर चढ़ता है ।

वह यही कहता है, कि मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा, मुझे अमृत बना।

और जो वह यह कहता है, कि "अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर लेजा" अन्धकार सचमुच मृत्यु है और ज्योति अमृत है। इस लिए वह यही कहता है, कि मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा। मुझे अमृत बना * ॥

(और जो वह यह कहता है) मृत्यु से मुझे अमृत की ओर लेजा, इस में कुछ छिपा हुआ नहीं है † ॥

---

* झूठ और अज्ञान ये दोनों मृत्यु हैं, सचाई और ज्ञान ये दोनों अमृत हैं। मृत्यु से बच कर वह अमृत बन जाता है, जो झूठ और अज्ञान से बच कर सचाई और ज्ञान का रस्ता लेता है॥ स्वाभाविक कर्म्म और ज्ञान असत् हैं और शास्त्रीय कर्म और ज्ञान सत् हैं, सो असत् से मुझे सत् की ओर लेजा, इसका यह अभिप्राय है, कि स्वाभाविक कर्म ज्ञान से मुझे निकाल कर शास्त्रीय कर्मज्ञान की ओर लेजा। स्वाभाविक कर्म विज्ञान प्रकृति में बांधे रखने वाले हैं। इस लिए वे मृत्यु हैं और शास्त्रीयकर्म और विज्ञान बचाने वाले हैं, इस लिए वे अमृत हैं। फिर अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर लेजा। इस का अभिप्राय यह है, कि अज्ञान से बचाकर मुझे ज्ञान प्राप्त करा (शङ्कराचार्य्य) ॥

† पहले दो मन्त्रों में जैसे व्याख्या की आवश्यकता थी वैसे इस मन्त्र में नहीं, क्योंकि इस का अर्थ स्फुट है, कोई बात इस में छिपी हुई नहीं है।

अब जो दूसरे स्तोत्र हैं, उन में उद्गाता अपने लिए खाने योग्य अन्न को गाए। इसलिए उन में जो कामना चाहे मांगे॥

वह उद्गाता जो इस विद्या का रहस्य जानता है, वह अपने लिए वा यजमान के लिए जो कामना चाहता है गाता है (गाने से पूरी करता है) । सो यह (विद्या) निःसन्देह लोक के जीतने वाली है। जो इस प्रकार इस साम को जानता है, उस को यह आशा (डर) नहीं है, कि वह लोक के योग्य नहीं होगा (किन्तु उस के लोक परलोक दोनों सुधरेंगे) ।२८

भाष्य–तीन पवमान स्तोत्रों में यजमान के लिए वर मांग कर शेष नौ स्तोत्रों में अपने लिए जो वर चाहे मांगे ॥

इस जप का विधान श्रौतसूत्रों में नहीं पाया जाता। श्रौत सूत्रों में यज्ञ का विधान है, पर उस के रहस्य आरण्यक और उपनिषदों में वर्णन हुए हैं । उन रहस्यों के जाने बिना भी यज्ञ फलवान् है, पर उस का असली फल तभी होता है, जब यजमान और ऋत्विज् यज्ञ की उपनिषद् के जानने वाले हों। यहां यह रहस्य बोधन किया है, कि उद्गाता का जीवन प्राण की नाईं पापों से बचा हुआ और परहित साधन में तत्पर हो। और वह उद्गीथ गाने से पहले उपर्युक्त जप करे । इस प्रकार यदि वह अपने जीवन को उच्च अवस्था में रख कर उद्गीथ गाएगा, तो वह उद्गीथ में अपने लिए वा यजमान के लिए जो वर मांगेगा पाएगा। और इस रहस्य को जो जानेगा (उपासेगा) उसी के लोक परलोक दोनों सुधरेंगे ॥

चौथा ब्राह्मण * (पुरुषविध ब्राह्मण)

संगति—विराट्पुरुष से व्यष्टि सृष्टि का वर्णन :-

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् । सोऽहमस्मीत्यग्रेव्याहरत्, ततो ऽहं नामाभवत् । तस्माद्प्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्रे उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते, यदस्य भवति । सयत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्, तस्मात् पुरुषः । ओषति हवै स तं, योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति, य एवं वेद ॥ १ ॥

आरम्भ में यह (विश्व) केवल आत्मा ही था-वह पुरुष की नाईं (था) उस ने अपने चारों ओर देखकर अपने सिवाय कुछ नहीं देखा । उस ने " मैं हूं " पहले यह कहा, इस लिए उस का नाम मैं हुआ । इसी लिए अब भी यदि किसी पुरुष को पूछते हैं, तो वह ' यह मैं ' पहले कह कर आगे दूसरा नाम बोलता है, जो उस का (नाम) होता है † । और जिस

---

* इस ब्राह्मण का नाम पुरुषविध ब्राह्मण है, क्योंकि इस में विराट् का वर्णन है, और विराट् को पुरुष के आकार में वर्णन किया जाता है (देखो-वेदोपदेश ७५-८५) यहां उस के धर्म भी पुरुष की नाईं वर्णन करेंगे, जैसा कि ' मैं ' उस का नाम है, उसे अपने आप को अकेला देख कर भय हुआ, अकेला समझ कर अरति हुई इत्यादि ॥

† विराट् पुरुष है, उस ने अपने आप को ' मैं ' समझा इस लिए मैं (अहं) उस का नाम है, और जिस तरह उस

लिए इस सब (विश्व) से पहले (पूर्व) उस ने सब बुराइयां को जला डाला, इस लिए वह पुरुष * (हुआ) जो इस रहस्य को जानता है, निःसन्देह वह उस को जलाता है, जो इस से पहले (आगे) होना चाहता है ॥ १ ॥

सोऽबिभेत्, तस्मादेकाकी बिभेति। सहायमीक्षां चक्रे, "यन्मदन्यन्नास्ति, कस्मान्नु बिभेमीति" ? तत एवास्य भयं वीयाय। कस्माद्ध्यभेष्यद् ? द्वितीयाद् वै भयं भवति ॥ २॥

वह डरा, इस लिए (हर एक) अकेला डरता है। उस ने (अपने आप में) सोचा कि मेरे सिवाय (कुछ) नहीं है,

---

आदि पुरुष ने अपने आप को मैं कहा, इसी तरह ये पुरुष भी अपने आप को मैं कहते हैं। क्योंकि विराट् सब का पिता है, उस का नाम उस की सारी वंश में होना चाहिये। वसिष्ठ के वंशधर वसिष्ठ कहलाते हैं, मैं के पुत्र मैं होने चाहियें। हम सब विराट् के पुत्र हैं, इस लिए 'मैं' हम सब का गोत्र नाम है ॥

* पूर्व=पहले। उष्=जलाना। जिस लिए विराट् ने सारी बुराइयों को पहले ही जला डाला, इसलिए उस का नाम पूर्व, उष्=पुरुष है। अगर कोई पुरुष इस रहस्य को जानले, जिस तरह सब बुराइयों के जला डालने से विराट् पुरुष है, इसी प्रकार हम भी सारी बुराइयों को जला कर पुरुष बन सकते हैं, तो फिर जगत् में उस से कोई आगे नहीं बढ़ सकेगा ॥

मैं किस से डरता हूं? उसी से इस का भय जाता रहा। वह किस से डरता? डर सचमुच दूसरे से होता है॥ २॥

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीय मैच्छत्। स हैतावानास, यथास्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। "तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः" इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव। तां समभवत्, ततो मनुष्या अजायन्त॥ ३॥

पर वह प्रसन्न नहीं हुआ। इस लिए (कोई पुरुष) अकेला प्रसन्न नहीं होता है। उस ने दूसरे की इच्छा की। वह इतना बड़ा था, जितना कि दोनों इकट्ठे हुए स्त्री पुरुष होते हैं। उसने अपने इस ही शरीर (विराट् देह) को दो प्रकार से गिराया (विभक्त किया) उस से पति और पत्नी हुए*। इसलिये याज्ञवल्क्य ने कहा "हम दोनों (में से हर एक) सीप के आधे दल † की नाईं हैं" इसलिए यह खुला (आकाश)

---

* पति=नर और पत्नी=नारी। यहां इन दोनों शब्दों में मूल 'पत्=गिरना, बतलाया है' "उस ने अप ने इस ही शरीर को दो प्रकार से गिराया (अपातयत्) उस से पति और पत्नी (ये नाम) हुए॥

† बृगल, किसी वस्तु के दो आधे टुकड़ों में से हरएक का नाम है जैसे एक सीप के दो अलग २ होते हैं वा एक चणे के दाने के दो अलग २ दल हैं, इसी प्रकार ये पुरुष स्त्री एक पूर्ण वस्तु के दो अलग २ दल हैं।

स्त्री से ही पूर्ण किया जाता है (जैसे सीप के दोनों दल मिला कर)। वह (विराट्) उस (पत्नी) के साथ संगत हुआ, तब मनुष्य उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

यद्यपि भय का कारण दूसरा नहीं था, पर पुरुष अकेला आनन्द भी अनुभव नहीं कर सकता। इस लिए विराट् पुरुष को भी अपने जोड़े की इच्छा हुई। जितने प्रकार की सृष्टि है, नर नारी का भेद सब में पाया जाता है, वह भेद विराट् देह में प्रकट हुआ, इस लिए विराट् का आधा देह नर और आधा नारी बना अर्थात् नर मादा का भेद उस में प्रकट हुआ, उसी नर मादे के संयोग से छोटे पोदे से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई।

सो हेयमीक्षां चक्रे, कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति ? हन्त तिरोऽसानीति स गौरभवद्, ऋषभः इतरः तां समेवाभवत्, ततो गावोऽजायन्त । वडवेतराऽभवद्, अश्ववृष इतरः, गर्दभीतरा, गर्दभ इतरः। तां समेवाभवत्, तत एक शफमजायत । अजेतराऽभवत्, बस्त इतरः, अविरितरा, मेष इतरः, तां समेवाभवत्, ततोऽजावयोऽजायन्त। एवमेव यदिदं किंच मिथुन मा पिपीलिकाभ्यः, तत्सर्वमसृजत् ॥ ४ ॥

तब उस (स्त्री) ने अपने आप में सोचा "कैसे वह मुझे अपने से ही जन्म देकर सङ्गत होता है ? हा ! मैं छिपजाऊं" ॥

(तब) वह गौ बन गई, दूसरा सांड (बन गया)

और उस के साथ सङ्गत हुआ, उस से गाएं उत्पन्न हुईं। वह* घोड़ी बन गई, दूसरा घोड़ा (बन गया), वह गधी बन गई दूसरा गधा बन गया और उस (उस) के साथ सङ्गत हुआ, तब एक खुर वाला (जिन के खुर बीच में से फटे हुए नहीं होते गधा, घोड़ा, खच्चर) उत्पन्न हुआ। तब वह बकरी बन गई, दूसरा बकरा बन गया, वह भेड़ बनी दूसरा मेढ़ा बन गया, वह उस (उस) के साथ सङ्गत हुआ, तब भेड़ बकरियें उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार छोटी चिउंटियों तक जो कोई जोड़ा है, उस सब को उस ने रचा॥ ४॥

विराट् देह में नर नारी का भेद दिखला कर यह सिद्ध किया है, कि जो भाग नारी था, वह गौ आदि भिन्न २ नारी स्वरूपों में प्रकट होता गया, और जो भाग नर था, वह सांड आदि भिन्न २ रूपों में प्रकट होता गया, इस प्रकार आदि सृष्टि हुई। यह कोई ऐतिहासिक इतिवृत्त नहीं, आदि सृष्टि को एक रोचक अलङ्कार में वर्णन किया है।

यहां मनुष्य और पशुओं की सृष्टि जिस क्रम से बतलाई है, उस क्रम के वर्णन में तात्पर्य नहीं, इसी लिए यहां मनुष्यों की सृष्टि पहले दिखलाई है, और पशुओं की पीछे। पर ऐतरेयोपनिषद् में पहले पशुओं की और फिर मनुष्यों की सृष्टि दिखलाई है॥

---

* इतरा, शब्द का अर्थ दूसरा है, नर और मादा दोनों में से नर की अपेक्षा से मादा दूसरी है और मादा की अपेक्षा से नर दूसरा है। पर भाषा में दोनों जगह दूसरा शब्द ठीक नहीं प्रतीत होता इस लिए इतरा का अर्थ 'वह' पद लिखा है॥

सोऽवेद् 'अहं वाव सृष्टिरस्मि, अहꣳहीदंसर्वमसृक्षि' इति, ततः सृष्टिरभवत्, सृष्ट्याꣳहास्यैतस्यां भवति, य एवं वेद ॥ ५ ॥

उस (विराट्) ने अपने आप में जाना, 'मैं निःसंदेह सृष्टि हूं, क्योंकि मैंने इस सब को अपने से रचा है" तब से वह सृष्टि हुई (कहलाई)। जो इस (रहस्य) को जानता है, वह उस की इस सृष्टि में होता है (जीता है) ॥ ५ ॥

अथेत्यभ्यमन्थत् । स मुखाच्चयोनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत् । तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमकाहि योनिरन्तरतः । तद् यदिदमाहुः 'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः एष उ ह्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत्, तदुसोमः । एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च । सोम एवान्नम्, अग्निरन्नादः । सैषा ब्रह्मणोऽति सृष्टिः, यच्छ्रेयसो देवानसृजत् अथयन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत् । तस्मादतिसृष्टिः । अतिसृष्ट्याꣳहास्यैतस्यां भवति, य एवं वेद ॥ ६ ॥

उस ने इस प्रकार मथन किया (मथन करके अग्नि को निकाला)। उस ने मुख से--(अग्नि के) स्थान से और हाथों से अग्नि को उत्पन्न किया * । इस लिए ये दोनों (मुंह और

---

* सृष्टि रचना को प्रायः यज्ञ के रूप में वर्णन किया गया है। यज्ञ के लिए जब अग्नि निकालते हैं, तो दो अरणियां

हाथ) अन्दर की तर्फ से बिना लोमों के हैं, क्योंकि अग्नि का स्थान अन्दर से बिना रोमों के होता है।

और जो यह कहते हैं " उस की पूजा करो, उस की पूजा करो " इस प्रकार एक २ देवता की । इसी * का वह भिन्न २ प्रकाश (ज़हूर) है, क्योंकि यह स्वयं ही सारे देवता है॥

अब जो कुछ यह आर्द्र (रसवाली वस्तु) है, उस को उस ने बीज से उत्पन्न किया और वह सोम है । बस इतना ही है यह सब (सारा विश्व) जो या तो अन्न है, या अन्न को खाने वाला है । सोम ही अन्न है और अग्नि अन्न का खाने वाला है † । सो यह ब्रह्म की ऊंची सृष्टि है, जो उसने उत्तम

लेकर, एक अरणि को नीचे रखते हैं, उसको अधरारणि कहते हैं, दूसरी ऊपर खड़ी रखते हैं उस को उत्तरारणि कहते हैं। अधरारणि के जिस स्थान में उत्तरारणि को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती है, उसे योनि कहते हैं। यहां मुख को योनि कहा है " मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च " (ऋग् १० । ९०) अर्थात् मुख से फूंका और हाथों से मथन किया।

* अग्नि उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, उसी का प्रकाशक है, इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसी के प्रकाशक हैं, इसलिए यज्ञों में जो अग्नि इन्द्र आदि भिन्न २ देवताओं की पूजा पाई जाती है, वह वास्तव में उसी एक ब्रह्म की पूजा है॥

† सोम यज्ञों में अग्नि के अन्दर सोमरस की आहुति दी जाती है। यह सोमयज्ञ ब्राह्मण्ड में इस प्रकार हो रहा है, कि यह विश्व अग्निषोमात्मक है-इस में जो रस वाली भोग्य

अंश से देवताओं को रचा * और जो उस ने मर्त्य हो कर अमृतों को रचा † । इस लिए वह अति सृष्टि है । और वह जो इस (रहस्य) को जान लेता है, वह उस की इस ऊंची सृष्टि में होता है, (जीता है) ॥ ६ ॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रि-यत,-असौनामायमिदंरूप इति । तदिदमप्येतर्हि नामरू-पाभ्यामेव व्याक्रियते, असौनामायमिदंरूप इति । स एष

वस्तु है वह सब सोम का रूप है और खाने वाला अग्नि है । वैश्वानर अग्नि ही सब वस्तुओं का भोक्ता है ।

* अथवा उस ने सब से उत्तम देवताओं को रचा ॥

† " मर्त्यः सन्नमृतानसृजत् " जिस रीति से ये शब्द पढ़े गए हैं, इन का यही अर्थ हो सकता है, कि मरने वाला हो कर न मरने वालों (अर्थात् देवताओं) को रचा । पर अभिप्राय समझ में नहीं आया । सम्भवतः यह प्रतीत होता है, कि यहां विराट् का वर्णन है और विराट् को पुरुष वर्णन किया है, इस लिए उस को मर्त्य, मनुष्य के अर्थ में कहा है" श्री स्वामी शङ्कराचार्य जी लिखते हैं, मरने वाला हो कर न मरने वालों को उत्पन्न किया, यह वचन इस अभिप्राय से है, कि जिस मर्त्य ने पहले कल्प में यजमान बन कर प्रजापति के लिए यज्ञ किया था, वही अब प्रजापति अर्थात् अमृतों का रचने वाला बना है, (पर इस कल्पना में कोई मूल नहीं मिलता-सम्पादक) ॥

इह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः, यथाक्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये । तं न पश्यन्ति, अकृत्स्नो हि सः, प्राणन्नेवप्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रम्ः मन्वानोमनः, तस्यैतानि कर्मनामान्येव । स योऽत एकैक मुपासते, न स वेद, अकृत्स्नोह्येषोऽत एकैकेन भवति । आत्मेत्येवोपासीत, अत्र ह्येते सर्वे एकंभवन्ति । तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा, अनेन ह्येतत् सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देद्, एवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७ ॥

वह यह (जगत्) उस समय अस्फुट था । यह नाम और रूप (आकार) से ही स्फुट हुआ, कि यह इस नाम वाला है * और इस रूप वाला है । अब भी यह नाम और रूप से ही स्पष्ट किया जाता है कि यह (वस्तु) इस नाम वाली है और इस रूप वाली है ॥

जैसे उस्तरा किस्वत=(पंजाबी में-रछानी, गुत्थी) में रक्खा हुआ हो, वा जैसे अग्नि † अग्नि के घर (लकड़ी) में

---

* असौनामा=यह समस्तपद इदंनामा की जगह प्रयुक्त हुआ है । यद्यपि असौ, नाम, इस प्रकार दोनों अलग २ पद हो सकते हैं, तथापि 'अयं और, इदंरूपः' के स्वारस्य से समस्त पद ही संगत प्रतीत होता है ।

† विश्वम्भर=अग्नि, देखो--कौषी० ब्रा० उप० ६ । १६; वायु (आनन्द तीर्थ) ।

हो. वैसे यह सर्वान्तरात्मा) नखों के अग्र तक, इस में प्रविष्ट हुआ। उस को देख नहीं सकते, क्योंकि वह सम्पूर्ण नहीं है। वह सांस लेता हुआ प्राण नाम होता है, बोलता हुआ वाणी, देखता हुआ नेत्र, सुनता हुआ श्रोत्र, और सोचता हुआ मन (नाम होता है)। सो ये इस के सब कर्म नाम ही हैं। वह जो इन में से एक २ की उपासना करता है, वह उस को नहीं जानता है. क्योंकि यह इन में से एक २ (कर्म) से असम्पूर्ण होता है। चाहिये कि 'वह आत्मा है, इस दृष्टि' से उस की उपासना करे, क्योंकि इस में (आत्मा में). ये सारे (कर्म) एक हो जाते हैं। सो इसी वस्तु की हर एक मनुष्य को खोज करनी चाहिये, जो यह आत्मा है। क्योंकि इस के द्वारा ही मनुष्य हर एक वस्तु को जानता है। और जैसा कि कोई पुरुष खोज से (खोए हुए पशु को) फिर पालेवे, इस प्रकार वह कीर्ति और स्तुति को पा लेता है, * जो इस (रहस्य) को जानता है॥ ७॥

अभिप्राय यह है—जब कोई वस्तु नई उत्पन्न होती है, तो उस में नयापन केवल नाम और रूप का ही होता है, असली तत्त्व में कोई भेद नहीं होता। मट्टी के बर्तन अब भी मट्टी ही हैं, हां मट्टी की अवस्था में ये रूप न थे, और ये नाम न थे, जो अब हैं। इसी प्रकार यह जगत् भी पहले एक ही अव्यक्त रूप में था, फिर जब यह व्यक्त हुआ, तो इस में नाम और रूप ही नए आए। पर तत्व वही है, जो पहले था। वह आत्मा

---

* इस के द्वारा मनुष्य हर एक वस्तु को जानता है, जैसे कि कोई खोज से खोए हुए पशु को पालेवे (शङ्कराचार्य्य)॥

जो पहले उस अव्यक्त जगत् का अन्तरात्मा था, वही अब इस व्यक्त नाम रूप का अन्तरात्मा है, क्योंकि वह सर्वान्तरात्मा है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में उस को द्यौ और पृथ्वी का अन्तरात्मा और नियन्ता बतलाया है, वहां प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र मन, त्वचा और जीवात्मा का भी अन्तर्यामी बतलाया है। वैसा ही यहां कहा है, कि वह इस अध्यात्मा में हर एक के नख के अग्रपर्यन्त प्रविष्ट हो कर प्राण वाणी आदि का सब का नियन्ता है। प्राण वाणी आदि उसी से शक्ति लाभ करते हैं, "येन प्राणः प्रणीयते, येन वागभ्युद्यते, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। और वह इन को शक्ति देता हुआ इन्हीं के नाम धारण करता है। क्योंकि वास्तव में प्राण उस के बिना अप्राण है, इस लिए सच्चा प्राण वह है, और वाक् उस के बिना अवाक् है, इस लिए सच्ची वाक् वह है। पर ये सब उस के कर्म नाम उस के एक २ कर्म को प्रकाशित करते हैं, इस प्रकार उस की व्यष्टि महिमा प्रकाशित होती है, उस की समष्टि महिमा इस से प्रकाशित नहीं होती, उस की पूर्ण महिमा 'आत्मा' इसी एक शब्द में आती है, क्योंकि वह हर एक वस्तु का आत्मा है। यद्यपि वह हमारे रोम २ में रम रहा है, तथापि हम उस को देख नहीं सकते, वह अरणि में अग्नि की नाईं छिपा हुआ है।

तदेतत् प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्, प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात्। आत्मा-

नमेव प्रियमुपासीत । स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते, न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

सो यह पुत्र से अधिक प्यारा है, धन से अधिक प्यारा है, और हरएक वस्तु से अधिक प्यारा है, यह सब से अधिक निकट है, जो यह आत्मा है।

यदि कोई पुरुष आत्मा के सिवाय किसी दूसरे को प्यारा कहता है, तो वह (पुरुष जो आत्मा के सिवाय किसी को प्यारा नहीं समझता) उस को कह सकता है, कि 'वह अपने प्यारे को खो देगा, तो वैसा ही होगा (अर्थात् यह वचन पूरा होगा) क्योंकि वह समर्थ है, (ऐसा कहने का हक रखता है)। (अत एव हर एक को) केवल आत्मा ही प्यारा समझ कर उपासना चाहिये । वह पुरुष, जो केवल आत्मा को ही प्यारा समझ कर उपासता है, इस का प्यारा नश्वर* नहीं होता ॥ ८ ॥

तदाहुः "यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या-मन्यन्ते, किमु तद्ब्रह्मावेद् , यस्मात् तत्सर्वम भवदिति" ॥९॥

---

* प्रमायुकं=मरने के स्वभाववाला=नश्वर । जो आत्म-भिन्न वस्तुओं को प्रेमपात्र बनाता है, उस का प्रेमपात्र नश्वर है, और इस लिये वह उस के नाश में दुःख उठाता है । और जिस का प्रेमपात्र आत्मा है, वह सदा सुखी होता है, क्योंकि उस का प्रेम उस में है, जिस के लिए जरा और मृत्यु नहीं, जो सदा एकरस है।

यहां वे (जिज्ञासु) कहते हैं "कि मनुष्य जो समझते हैं, कि हम ब्रह्मविद्या से सब कुछ बन जाएंगे, तो वह क्या था जो ब्रह्म ने समझा, जिस से कि वह सब कुछ होगया' ॥९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेद्, 'अहं ब्रह्मास्मि' इति। तस्मात् तत्सर्वमभवत्। तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्; तथर्षीणां, तथा मनुष्याणां। तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद, 'अहं ब्रह्मास्मीति' स इदꣳ सर्वं भवति, तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत, आत्मा ह्येषाꣳस भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद। यथा पशुरेवꣳस देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः, एवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति, एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति, किमु बहुषु, तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन् मनुष्या विद्युः ॥२०॥

सचमुच यह आरम्भ में ब्रह्म था, उस ने केवल अपने आप को जाना 'मैं ब्रह्म हूं' इस से वह सब कुछ हो गया। इस प्रकार जो २ देवताओं में से जागा (जिस की अविद्या दूर हुई) वही वह (ब्रह्म) बन गया? इसी प्रकार ऋषियों में से और इसी प्रकार मनुष्यों में से (जो जागा, वही ब्रह्म बन गया)। यह जब वामदेव ऋषि ने देखा, तो उस ने निश्चय

किया, " मैं मनु हुआ मैं सूर्य हुआ " * सो इस (तत्त्व) को अब भी जो इस प्रकार समझता है " कि मैं ब्रह्म हूं " वह यह सब कुछ हो जाता है, और देवता भी उस के ऐश्वर्य्य के रोकने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह इन (देवताओं) का आत्मा हो जाता है। अब जो अन्य देवता की उपासना करता है-यह समझता हुआ कि वह (देव) और है, और मैं और हूं, वह नहीं जानता है। वह देवताओं के पशु की नाईं है†। और जैसा कि बहुत से पशु एक २ मनुष्य का पालन करते हैं, ठीक ऐसे ही एक २ पुरुष बहुत से देवताओं का पालन करता है। जब किसी का केवल एक ही पशु ले लिया जाए, तो उस को अप्रिय होता है। क्या फिर यदि बहुत से ले लिये जाएं, इसलिए इन को (देवताओं को) यह प्रिय नहीं, कि मनुष्य (ब्रह्म को) जानें ॥ २० ॥

भाष्य—यहां अभेद का वर्णन स्पष्ट प्रतीत होता है, पर ऐसा ही भेद का वर्णन बहुत जगह पर स्पष्ट पाया जाता

---

* ऋग्वेद ४।३।२६ ब्रह्मसूत्र में इस विषय पर विचार है।

† पूर्व कह आए हैं, कि हर एक देवता की पूजा उसी ब्रह्म की पूजा है, क्योंकि वही सारे देवता हैं, फिर यहां देव पूजा की निन्दा नहीं हो सकती, इस लिए यहां उन लोगों की निन्दा है, जो उस अन्तरात्मा को नहीं जानते, और न उस के साथ इस परम सम्बन्ध को अनुभव करते हैं, खाली बाह्य क्रियामात्र कर छोड़ते हैं।

है। यही कारण है, कि उपनिषद् का प्रचार करने वाले कई एक आचार्य तो उपनिषद् का परम तात्पर्य अभेद में बतलाते हैं और भेद वाक्यों की अपने पक्ष में संगति लगाते हैं और दूसरे आचार्य भेद में परम तात्पर्य मान कर अभेद वाक्यों की उस से संगति मिलाते हैं। पर उपनिषद् का तात्पर्य इन दोनों में से एक ही हो सकता है, एक दूसरे से विपरीत दो तात्पर्य नहीं हो सकते। सो इन वाक्यों की व्यवस्था यह प्रतीत होती है। भेद वास्तविक है और जहां अभेद है, वह किसी अभिप्राय विशेष से कहा है। "ज्ञाऽज्ञौ द्वावजावीशानीशावजाह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" (श्वेता० उप० १।९) दो अज (अनादि) हैं, उन में से एक में पूर्ण ज्ञान है और दूसरे में अज्ञान है, एक ईश्वर है और दूसरा अनीश्वर है। और एक और अज (अनादि) है जिस में भोक्ता की सारी भोग्य वस्तुएं पाई जाती हैं। इसी प्रकार फिर लिखा है "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" (श्वेता० उप० १।१२) भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) और प्रेरने वाले (ईश्वर) को जान कर॥ इत्यादि स्थलों में स्पष्ट जीव ईश्वर का भेद वर्णन किया है। ब्रह्मसूत्रों में बहुत से उपनिषद्-वाक्यों के द्वारा जीव ईश्वर का भेद दिखलाया है। ये वाक्य अपने २ अवसर पर दिखलाए गए हैं। फिर यहां बृहदारण्यक में भी ब्रह्म को सर्वान्तर्यामी वर्णन करने के प्रसंग में स्पष्ट जीव ईश्वर का भेद दिखलाया है "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं"

(३ । ७ । २२) जो जीवात्मा में रह कर जीवात्मा से अलग है; जिस को जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिस का शरीर है। यहां 'विज्ञाने' शब्द जीवात्मा के अर्थ में है, क्योंकि माध्यन्दिनीय शाखा की उपनिषद् में 'विज्ञाने' की जगह 'आत्मनि' शब्द पढ़ा है। ब्रह्मसूत्रों में इस प्रकरण का विचार किया है। कि अन्तर्यामी से अभिप्राय क्या है, सिद्धान्त यह है, कि अन्तर्यामी ईश्वर के अभिप्राय से कहा है। इस पर जो यह आशंका हुई, कि अन्तर्यामी से तात्पर्य जीवात्मा ही क्यों न लिया जाए, क्योंकि जीवात्मा इस जड़ जगत् के अन्दर रह कर इस को नियम में रखता है, तो इस का उत्तर यह दिया है, कि " शारीरश्चोभयेपि भेदेनैनमधीयते " (ब्रह्मसूत्र १। २ २०) अर्थात् अन्तर्यामी जीवात्मा भी नहीं, क्योंकि दोनों शाखाओं वाले जीवात्मा को अन्तर्यामी से अलग पढ़ते हैं। अर्थात् काण्वशाखा वाले " यो विज्ञाने तिष्ठन् "=जो विज्ञान अर्थात् जीवात्मा में रह कर, यह पाठ पढ़ते हैं और माध्यन्दिन " य आत्मनि तिष्ठन् "=जो आत्मा में रह कर, यह पढ़ते हैं। इस प्रकार दोनों शाखा वाले जीवात्मा से अन्तर्यामी को अलग ठहराते हैं, इस लिए अन्तर्यामी से अभिप्राय जीवात्मा नहीं, परमात्मा है। इस अर्थ में कोई विवाद नहीं, स्वामी शङ्कराचार्य भी ठीक ऐसा ही अर्थ लिखते हैं। वे इस पर टिप्पणी यह चढ़ाते हैं, कि यह भेद उपाधि से है, जैसे घटाकाश और महाकाश में उपाधि से भेद है। पर यहां जो असली प्रश्न उत्पन्न होता है, उस का उत्तर स्वामी शङ्कराचार्य्य के भाष्य से नहीं

मिलता। वह प्रश्न यह है, कि माना, आकाश में कोई भेद नहीं घट के अन्दर भी वही आकाश है और बाहर भी वही आकाश है, केवल घट की उपाधि से उसको घटाकाश कह देते हैं, वस्तुतः आकाश में कोई भेद नहीं। पर ऐसा भी तो कभी नहीं कहते, कि घटाकाश के अन्दर भी कोई आकाश है। क्योंकि वह आप ही आकाश है, उस के अन्दर फिर आकाश कैसे कहें। और यहां (बृहदा० उप० ३।७।२२ में) तो स्पष्ट यह कहा है, कि वह आत्मा के अन्दर रह कर आत्मा से न्यारा है, आत्मा उस को नहीं जानता, आत्मा उस का शरीर है। जब आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं, तो फिर ब्रह्म उस के अन्दर कैसे हुआ और आत्मा से न्यारा कैसे हुआ? और आत्मा उस का शरीर कैसे हुआ? ये सारी बातें असली भेद में ही घट सकती हैं, अन्यथा नहीं। फिर हम यह भी देखते हैं, कि मुक्ति की अवस्था में भी स्पष्ट भेद दिखलाया है। जैसा कि तैत्तिरीय० उप० २।१ में है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"= वह पुरुष जो उस ब्रह्म को जान लेता है, जिस का स्वरूप सत्य, ज्ञान और अनन्त है और जो परम आकाश में गुहा के अन्दर है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है॥ इसी प्रकार "अत्र ब्रह्म समश्नुते"=यहां वह ब्रह्म का उपभोग करता है,' कहा है। ब्रह्म का उपभोग करना वा उस के साथ भोगों का भोगना स्पष्टतया भेद का बोधक है। यद्यपि मुक्ति अवस्था का यह वर्णन भी है कि "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

वह जो ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म हो जाता है। पर साथ ही यह वर्णन भीहै, "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डक ३।३) जब यह देखने वाला सब के कर्ता, परिपूर्ण, ज्योर्तिमय ब्रह्म को देखता है, तब वह जानने वाला पुण्य पाप को झाड़ कर निरञ्जन बन कर परम तुल्यता को प्राप्त होता है॥ मुण्डक के इन दो वचनों में से एक वचन तो यह कहता है, कि वह ब्रह्म ही हो जाता है और दूसरा कहता है, कि वह उस के तुल्य हो जाता है। ये दोनों वचन एक ही उपनिषद् में हैं। दोनों का अभिप्राय एक ही होना चाहिये। अब यह तो स्पष्ट है, कि तुल्यता तो एक में हो ही नहीं सकती, यह उस के तुल्य है तभी कहा जाता है, जब दो भिन्न २ पदार्थ हों। पर किसी को तद्रूप वर्णन करना एकता में भी होता है, जैसे बर्फ पानी ही है। और तुल्यता में भी होता है, जैसे छलबल न करने वाले को कहते हैं, कि यह ऋषि ही है। जिस का भारी ऐश्वर्य हो, उस को कहते हैं, यह राजा ही है। जो हर एक बात में साथ देने वाला हो उस को कहते हैं, यह मेरा भाई ही है। इन सब का अर्थ यही है, कि यह ऋषि के तुल्य है, राजा के तुल्य है और भाई के तुल्य है। इसी प्रकार 'ब्रह्मैव भवति' का अर्थ है-ब्रह्म के तुल्य हो जाता है। तब ये दोनों वचन एक दूसरे से संगत हो जाते हैं। ब्रह्म की उपासना से आत्मा उस के गुणों को धारण करता है क्योंकि "तं यथा यथोपास्ते तदेव भवति" उस को

जैसे २ उपासता है, वही हो जाता है, इस लिए कहा है-ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति-यह एक और वचन भी है, जो हमारे आशय को पूरा दृढ़ करता है " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति " (श्वेता० उप० १ । ६) अलग अपने आत्मा को और प्रेरने वाले को समझ कर तब उस से प्यार किया हुआ मुक्ति पा लेता है ॥ इस प्रकार मुक्ति में भी स्पष्ट भेद दिखलाया है । अतएव यहां बृहदारण्यक में भी हम यह समझते हैं-कि आत्मा, जब बाहर की ओर झुका हुआ है, तो वह अपने शरीर के साथ एक हो रहा है । शरीर में कोई रोग हो, तो वह अपने आप को रोगी समझता है, शरीर स्वस्थ हो, तो वह अपने आप को स्वस्थ समझता है । वह इस तरह इस शरीर में लीन हो रहा है, कि मानो शरीर और आत्मा एकही वस्तु है । इसी प्रकार जव वह अपने अन्तरात्मा की ओर झुकता है, तो वह पहले बाहर से हट कर अपने स्वरूप में स्थित होता है, और फिर अपने स्वरूप के अन्दर * परमात्मा को देखता है । तब वह अपने स्वरूप में उस अन्तरात्मा को धारण करके 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता है । क्योंकि पहले जो एकता उस की जड़ प्रकृति के साथ थी,

* यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । (श्वेता० १ । १५) जब योगयुक्त हो कर दीपक की नाईं आत्मतत्व से परमात्मतत्व को देख ले, तब वह उस अनादि अटल और सारे तत्वोंसे शुद्ध देव को जानकर सब फांसों से छूट जाता है ।

अब वह उस की अपने अन्तर्यामी के साथ है । पहले जिस तरह शरीर और आत्मा एक हो रहे थे, अब उसी तरह आत्मा और परमात्मा एक हो रहे हैं। और यह सत्य है, कि आत्मा प्रकृति में जब तक अपने आप को लीन नहीं कर लेता, प्रकृति का उपभोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक वह अपने आप को परमात्मा में लीन नहीं कर लेता, परमात्मा का उपभोग नहीं कर सकता, इस उपभोग में मग्न हुआ वह अपने आप से भी बे खबर हो जाता है, और उस के आत्मा में अपने उपास्य का आवेश होता है 'तं यथा यथोपास्ते तदेव भवति' ॥

दूसरा—जिस से जिस को सामर्थ्य मिलता है, उस का वाचक शब्द उसके लिए बोला जाता है, जैसे १ । ५ । २१ में इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द है। आत्मा भी परमात्मा से शक्ति लाभ करता है इस लिए कहा है-चेतनश्चेतनानां इस कारण से आत्मा के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग हो सकता है ॥

अथवा यहां ब्रह्म से तात्पर्य विराट् है, क्योंकि यहां पहले और आगे विराट् का वर्णन है । विराट् ही सब कुछ है। देवता ऋषि, और मनुष्य भी विराट् के अन्तर्गत हैं, चारों वर्ण विराट् के भिन्न २ अङ्ग हैं (देखो ऋग्० १० । ९० ।१२) विराट् से भिन्न नहीं, विराट् के साथ एक हैं । यही एकता वामदेव के वचन से दिखलाई है, जो कोई इस अभेद को अनुभव करले, वह सब कुछ होता है, देवता उस के लिए रुकावट नहीं डालते, वह तो देवताओं का अपना आप है । हां

देवताओं का वह पशुवत् काम देता है, जो इस अभेद को समझ कर उन के लिए देता है।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकꣳसन्नव्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये । क्षत्र एव तद्यशो दधाति । सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम् । य उ एनꣳहिनस्ति, स्वाꣳस योनि मृच्छति । स पापीयान् भवति, यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥ ११ ॥

निःसन्देह आरम्भ में यह केवल एक ब्रह्म था, वह अकेला हुआ पूरा समर्थ नहीं हुआ । अब उस ने एक बहुत अच्छी सृष्टि रची, जो क्षत्र (बल, वा क्षत्रियजाति) है * । देवताओं में ये क्षत्र हैं—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान । सो क्षत्र से परे (बढ़कर) कुछ नहीं, इसलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है । वह क्षत्रिय पर ही उस यश को रख देता है † । पर यह क्षत्र का उत्पत्ति

---

* अग्नि और ब्राह्मण की सृष्टि पूर्व कह आए हैं ॥

† राजसूय यज्ञ में जब राजा को तिलक हो चुकता है और वह आसन्दी (तख्त) पर बैठा हुआ अपने ऋत्विज् को

स्थान है, जो ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) है। इस लिए राजा यद्यपि (राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण से) ऊंचाई पाता है, पर (यज्ञ के) अन्त में वह ब्राह्मण के, जो कि उस का कारण है, नीचे बैठता है। वह (क्षत्रिय) जो इस (ब्राह्मण) की हिंसा करता है (अनादर करता है), वह अपने कारण की हिंसा करता है; वह अधिक पापी * बनता है, जैसा कि वह पुरुष जो अपने से भले पुरुष की हिंसा करता है॥ ११ ॥

सम्बोधन करता है—ब्रह्मन्=हे ब्राह्मण। तब ऋत्विज् उस के उत्तर में कहता है-त्वं राजन् ब्रह्मासि, हे राजन् तू ब्राह्मण है। इस प्रकार वह अपना ब्राह्मणत्व का यश राजा को देता है और आप उस समय उस से नीचे बैठता है। पर ब्रह्म से क्षत्र उत्पन्न हुआ है, इस लिए राजा ब्रह्म और क्षत्र दोनों बलों को लाभ करके भी ब्राह्मण को आदर देता है क्योंकि ब्रह्म क्षत्र का उत्पत्ति स्थान है।

* पापीयान् शब्द प्रतियोग में अधिक पापी के अर्थ में आता है। इस लिए स्वामी शङ्कराचार्य्य लिखते हैं, कि क्षत्रिय पहले ही क्रूर होने से पापी है, यदि वह अपने कारण का अनादर करे, तो और भी अधिक पापी होता है। पर जब वेद में परमात्मा की आज्ञा है कि मेरी जिस पर कृपा होती है, वह क्षत्रिय होता है (देखो वेदोपदेश पृ० १०४) तो हम यह आशय नहीं निकाल सकते, कि क्षत्रिय पहले ही पापी हैं। इस लिए यहां यह तात्पर्य स्पष्ट है, कि किसी एक भले पुरुष की हिंसा पाप है, पर अधिक भले की अधिक पाप है। इस लिए आगे

स नैव व्यभवत् । स विशमसृजत, यान्येतानि देव-त्रा गणश आख्यायन्ते—वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

वह (क्षत्र को रच कर भी) पूरा समर्थ नहीं हुआ। उस ने विश् (वैश्य=प्रजा) को रचा, (देवताओं में वैश्य ये हैं) जो ये भिन्न २ देवताओं के समूह भिन्न २ श्रेणियों (कम्पनियों) द्वारा कहे जाते हैं—वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत * ॥ १२ ॥

स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् । इयं वै पूषा, इयꣳहीदꣳसर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥ १३ ॥

वह पूरा समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्र के वर्ण को रचा अर्थात् पूषा (पालन पोषण करने वाले) को। यह (पृथिवी) ही पूषा है, क्योंकि पृथिवी उस सब का पोषण करती है, जो कुछ यह है ॥ १३ ॥

भी 'श्रेयांसं,' कहा है। 'श्रेयस्, शब्द भी मुकाबिले में अधिक भले पुरुष के लिए आता है, सो ऐसे पुरुष की हिंसा का पाप भी मुकाबिले में अधिक होना चाहिये।

* वैश्य लोग श्रेणियें बना कर ही धन के उपार्जन में समर्थ होते हैं, न कि अकेले २। इस लिए इन देवताओं को वैश्य कहा है जो श्रेणियों में रहते हैं-वसु ८ हैं रुद्र ११ आदित्य १२ विश्वेदेव १३ मरुत ४६ ॥

स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं । तदे-तत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्, तस्मात् धर्मात् परं नास्ति । अथो अबलीयान् बलीया॑ंसमा श॑ंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवं । यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर् 'धर्मं वदती' ति धर्मं वदन्त॑ं 'सत्यं वदती' त्येतद्धेव तदुभयं भवति ॥ १४ ॥

वह पूरा समर्थ नहीं हुआ । अब उस ने एक और बड़ी कल्याणकारिणी सृष्टि रची अर्थात् धर्म। यह क्षत्र का भी क्षत्र (बल का बल) है, जो यह धर्म है, इस लिए धर्म से बढ़ कर कुछ नहीं है । अतएव एक दुर्बल मनुष्य भी धर्म की सहायता से अधिक बल वाले पर प्रभुता करता है, जैसे राजा की सहायता से । धर्म वही है, जो यह सचाई है । इसी लिए यदि कोई पुरुष सत्य कहता है, तो लोग कहते हैं, कि यह धर्म कहता है, और यदि धर्म कहता है, तो लोग कहते हैं, कि सत्य कहता है । इस प्रकार यह एक ही (वस्तु) ये दोनों (धर्म और सचाई) है* ॥ १४ ॥

तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः । तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्, ब्राह्मणो मनुष्येषु, क्षत्रियेण क्षत्रियो, वैश्येन वैश्यः,

* धर्म का लक्षण इससे बड़कर कुछ नहीं हो सकता । इस धर्म को जो अपना बना सकता है, उस को किसी से भय नहीं । क्योंकि वह स्वयं अभयपद में विचरता है और औरों को अभय मार्ग पर लाता है ।

शूद्रेण शूद्रः। तस्मादग्नावेव देवेषु लोक मिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येषु, एताभ्याᳬहि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो हवा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति, स एनमविदितो न भुनक्ति, यथा वेदोवाऽननूक्तो, ऽन्यद्वा कर्माकृतं। यदि ह वा अप्यनेवंविद् महत् पुण्यं कर्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयते एव। आत्मानमेव लोकमुपासीत। स य आत्मानमेव लोक मुपास्ते, न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामयते तदेव सृजते ॥ १५ ॥

सो यह है ब्रह्म, क्षत्र, विश् (वैश्य) और शूद्र। देवताओं में वह ब्रह्म (विराट्) केवल अग्निरूप से ही (स्थित) हुआ, और मनुष्यों में ब्राह्मण, (दिव्य) क्षत्रिय से क्षत्रिय, (दिव्य) वैश्य से वैश्य, (दिव्य) शूद्र से शूद्र। इस लिए लोग देवताओं में से अग्नि में ही लोक (परलोक, भविष्यत्) चाहते हैं, और मनुष्यों में से ब्राह्मण में। क्योंकि इन्हीं रूपों से ब्रह्म (विराट्, प्रकट) हुआ। अब यदि कोई पुरुष अपने लोक (अपनी सच्ची दुनिया अर्थात् आत्मा) को बिना देखे इस लोक से चल बसता है, तब वह आत्मा जो इस ने जाना नहीं है, इस का पालन नहीं करता (इस के शोक, मोह, भय को दूर नहीं करता) जैसा कि यदि वेद न पढ़ा हो, वा और कोई पुण्य कर्म न किया हो, (तो वह उस का पालन नहीं करता) यदि इस (आत्मा) को न जानने वाला बड़ा पुण्यकर्म भी करता है, तो वह उस का अन्ततः क्षीण हो जाता है। अतएव

चाहिये कि केवल आत्मा को अपना लोक समझ कर उपासना करे। यदि कोई पुरुष केवल आत्मा को ही अपना वास्तविक लोक समझ कर उपासता है, तो उस का कर्म नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह इसी आत्मा से जो २ कुछ चाहता है रच लेता है ॥ १५ ॥

भाष्य—विराट् का देवताओं में जो रूप अग्नि है, मनुष्यों में वह ब्राह्मण है। ये दोनों दिव्य और मानुष ब्राह्मण हैं। इसी प्रकार दिव्य और मानुष क्षत्रिय वैश्य और शूद्र समझने चाहियें। सो ये चारों वर्ण दिव्य और मानुष ब्राह्मण द्वारा अपना लोक (भविष्यत्) सुधारते हैं। पर कर्मी को चाहिये, अपने वास्तविक लोक (अन्तरात्मा) को भी पहचाने। यदि वह उसे जान कर कर्म करता है, तो उस का कर्म क्षीण नहीं होता, और वह उस अन्तरात्मा से जो चाहता है, पाता है। पर जो उस अन्तरात्मा को नहीं जानता, उस का कर्म क्षीण हो जाता है ॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः। स यज्जुहोति, यद्यजते, तेन देवानां लोकः, अथ यदनुब्रूते, तेन ऋषीणाम्; अथ यत् पितृभ्यो निपृणाति, यत् प्रजामिच्छते, तेन पितॄणाम्; अथ यन्मनुष्यान् वासयते, यदेभ्योऽशनं ददाति, तेन मनुष्याणाम्; अथ यत् पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति, तेन पशूनां, यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्या पिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति, तेन तेषां लोकः। यथा ह वै स्वाय लोका-

यारिष्टिमिच्छेदेव ँ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति।
तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥ १६ ॥

अब यह आत्मा सब प्राणधारियों का लोक है *। (देवयज्ञ-) वह जो होम करता है और यज्ञ करता है, इस से वह देवताओं का लोक है, (स्वाध्याय यज्ञ-) और जो वेद पढ़ता है, उस से ऋषियों का लोक है, (पितृयज्ञ-) और जो वह पितरों को देता है और जो सन्तान को चाहता है, इस से वह पितरों का लोक है, (नृयज्ञ-) और जो वह मनुष्यों को वास देता है और जो इन को भोजन देता है, इस से वह मनुष्यों का लोक है, (भूतयज्ञ) और जो वह पशुओं के लिए घास और जल प्राप्त करता है, इस से वह पशुओं का लोक है, और जो इसके घर में चौपाए, पक्षी और चिउंटी तक (जीव जन्तु) उपजीविका पाते हैं, इस से वह उन का लोक है। जैसा कि हर एक चाहता है, कि उस के अपने लोक को हानि न पहुंचे, इसी प्रकार सारे प्राणधारी इस (रहस्य) के जानने वाले की हानि नहीं चाहते। सो यह (विषय) जाना गया है और इस पर विचार किया गया है† ॥ १६ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत 'जाया मे

---

* सब प्राणधारियों का लोक है अर्थात् सारे प्राणधारी इस से उपभोग लाभ करते हैं ॥

† शतपथ के पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में इस विषय को लिख आए हैं और अवदान प्रकरण में इस पर विचार किया है ॥

स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इति। एतावान् वै कामः, नेच्छँश्च नातो भूयो विन्देत, तस्माद-प्येतर्ह्येकाकी कामयते, 'जाया मे स्यादथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय' इति। स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते। तस्यो कृत्स्नता—मन एवास्यात्मा; वाग्जाया; प्राणः प्रजाः, चक्षुर्मानुषं वित्तं, चक्षुषा हि तद्विन्दते; श्रोत्रं दैवँश्रोत्रेण हि तच्छृणोति; आत्मैवास्य कर्म आत्मना हि कर्म करोति; स एष पाङ्क्तो-यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पाङ्क्तः पुरुषः, पाङ्क्तमिदँसर्वं यदिदं किञ्च। तदिदँसर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

आरम्भ में यह केवल एक आत्मा ही था। उस ने इच्छा की 'मेरे लिए स्त्री हो, तब मैं सन्तान वाला बनूं, और मेरे लिए धन हो, तब मैं कर्म करूं' इतनी ही (मनुष्य की) कामना है, चाहता हुआ भी इस से बढ़ कर नहीं पा सकता, इस लिए अब भी अकेला इच्छा करता है, 'मेरे लिए स्त्री हो, तब मैं सन्तान वाला बनूं, और मेरे लिए धन हो, तब मैं कर्म करूं'। वह जब तक इन (स्त्री, सन्तान, धन और कर्मों की पूर्ति) में से एक २ को नहीं पा लेता, तब तक (अपने आप को) पूर्ण नहीं मानता। उस की पूर्णता (इस प्रकार बनती है)-मन ही इस का आत्मा (पति) है; बाणी पत्नी है; प्राण सन्तान है; नेत्र मानुष धन है, क्योंकि नेत्र से उस (मानुषधन) को

पाता है; श्रोत्र दैव (धन) है; क्योंकि श्रोत्र से उस (दैवधन) को (वेद द्वारा) सुनता है, (शरीर) ही इस का कर्म है, क्योंकि शरीर से ही कर्म करता है। सो यह पांच से बना हुआ यज्ञ है, पांच से बना हुआ पशु है, पांच से बना हुआ पुरुष है, पांच से बना हुआ यह सब कुछ है, जो कुछ यह है * । जो इस (रहस्य) को जानता है, वह इस सब को पालेता है ॥१७॥

भाष्य—मनुष्य की कामाना इतनी ही है, कि उस के पास स्त्री और पुत्र हों और धन हो, जिस से वह बड़े २ यज्ञ और दूसरे कर्म कर सके, शेष सारी कामनाएं इन्हीं के अन्दर हैं, इन से अलग नहीं । इन में से जब तक कोई भी कामना पूर्ण न हो, पुरुष अपने आप को पूर्ण नहीं समझता। पर है यह उस की भूल क्योंकि इन बाह्य साधनों से उसकी सच्ची पूर्णता नहीं, सच्ची पूर्णता उन साधनों से है, जो उस को साथ ही दिये गये हैं । सो मन यजमान है, जो सारे शुभ संकल्पों (यज्ञों) का करने वाला है। बाणी पत्नी है, जो उन शुभ कर्मों में सहायता देती है। इन दोनों की एकता से जो सन्तान होती है, वह प्राण है, जीवन है । यज्ञ में जो गौ आदि मानुष धन है, वह यहां नेत्र है, क्योंकि यह इन सारे धनों की प्राप्ति का साधन है। उपासना और ज्ञान जो दैवधन हैं, वह यहां श्रोत्र है, क्योंकि श्रोत्र से उपासना और ज्ञान को सुनते हैं, और उस का शरीर यज्ञ का कर्म है । सो यज्ञ, पति, पत्नी, मानुष धन, दैव धन और कर्म इन पांच से बना है । दूसरी वस्तुएं भी पांच तत्वों से ही बनी हैं। सो जो मन बाणी, नेत्र, श्रोत्र और

* देखो तै० उप० १ । ७ । १ ॥

कर्म से अपनी पूर्णता बना लेता है, उस के सब कुछ अधीन हो जाता है ॥

पांचवां ब्राह्मण—

यत् सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता ।
एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ॥ १॥
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् ।
तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥२॥
कस्मात् तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा ।
यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन ॥३॥
सदेवानपिगच्छति स ऊर्ज्जमुपजीवती, ति श्लोकाः ॥

(सृष्टि के) पिता ने ज्ञान और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये । (उन में से) एक अन्न इस का (=सारे प्राणधारियों का) सांझा है, दो देवताओं को बांट दिये ॥१॥ तीन उस ने आत्मा के लिए बनाए, एक पशुओं को दिया, उस में सब कुछ सहारा लिए हुए है, जो सांस लेता है, और जो (सांस) नहीं (लेता) ॥ २ ॥ वे (अन्न) क्यों क्षीण नहीं हो जाते, जब कि सदा खाए जारहे हैं ? जो इस न क्षीण होने को जानता है, वह अपने मुख से अन्न खाता है ॥ ३ ॥ वह देवताओं में मिल जाता है और वह रस (अमृत) का उपभोग करता है ॥ ४ ॥ ये (पूर्व ऋषियों के कहे) श्लोक हैं ॥ १ ॥

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिते ' ति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता । ' एकमस्य साधारणमि ' ती-

दमेवास्य तत् साधारणमन्नं यदिदमद्यते। स य एतदुपास्ते, न स पाप्मनो व्यावर्तते, मिश्रꣳह्येतत् । 'द्वे देवानभाजयद्' इति। हुतं च प्रहुतं च। तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्रच जुंह्वति, अथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति, तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् । 'पशुभ्य एकं प्रायाच्छदि' ति तत्पयः । पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति, तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति, स्तनं वाऽनुधापयन्ति, अथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति । 'तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न' इति पयसि हीदꣳसर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः, 'संवत्सरं पयसा जुह्वदपपुनर्मृत्युंजयति' इति । न तथा विद्याद्, यदहरेव जुहोति, तदहः पुनर्मृत्यु मपजयत्येवं विद्वान् सर्वꣳहि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति । 'कस्मात् तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा' इति पुरुषो वा अक्षितिः, सहीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते । 'यो वै तामक्षितिं वेद' इति। पुरुषो वा अक्षितिः, सहीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिः, यद्धैतन्न कुर्यात् क्षीयेत ह । 'सोऽन्नमत्ति प्रतीकेने' ति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत् । 'स देवानपिगच्छति स ऊर्जमुपजीवती' ति प्रशꣳसा ॥ २ ॥

*(सृष्टि के) पिता ने " ज्ञान और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये " यह सच है, कि उस ने ज्ञान और तप (श्रम) से ही सात अन्न उत्पन्न किये हैं । " (उन में से) एक अन्न इस का (सारे प्राणधारियों) का सांझा है " वह सांझा अन्न यही है जो यह खाया जाता है। वह पुरुष जो इस (सांझे अन्न को) उपासता है (खाता है) वह पाप से अलग नहीं होता, क्योंकि यह (अन्न) (सब का) मिला हुआ है। " दो देवताओं को बांट दिये " (वे, दो, ये, हैं) हुत और प्रहुत= (हुत=देवताओं के लिए अग्नि में होम करना और प्रहुत=बलि देना) इस लिए देवताओं के लिए होम करते हैं और बलि देते हैं। और यह भी कहते हैं, कि (देवताओं के दोनों अन्न हुत प्रहुत नहीं किन्तु) दर्श और पूर्णमास (दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि) हैं † इस लिए मनुष्य को निरा काम्य इष्टियें करने

* इस खण्ड में पिछले श्लोकों की व्याख्या है, जो पाठ अन्योक्ति " इस चिन्ह " के अन्दर है वह पिछले श्लोक का है। उस के आगे उस की व्याख्या है वा उस के विषय में कुछ कहा है ॥

† श्लोक में यह तो कहा है, कि दो अन्न देवताओं को बांट दिये, पर श्लोक में यह स्पष्ट नहीं कि वे दो कौन से हैं, इस लिए सम्भव होने से कई लोगों ने उन दो से हुत प्रहुत समझे हैं और दूसरों ने दर्श, पूर्णमास । उपनिषद् में दोनों मत दिखला दिये हैं।

वाला नहीं बने रहना चाहिये * । " एक पशुओं को दिया " वह दूध है । क्योंकि आरम्भ में (बचपन में) मनुष्य और पशु दूध का ही उपभोग करते हैं, इस लिए नए उत्पन्न हुए बच्चे को पहले पहल घी चटाते हैं वा स्तन पिलाते हैं † । और सजाए बछड़े को कहते हैं कि ' अतृणाद ' है अर्थात् अभी घास नहीं खाता । " उस (अन्न) पर सब कुछ सहारा लिये हुए है, जो सांस लेता है और (सांस) नहीं (लेता है) " । क्योंकि दूध पर यह सब कुछ सहारा लिए हुए है, जो सांस लेता है और सांस नहीं लेता है ‡ ।

---

* शतपथ ब्राह्मण में इष्टि शब्द उन के लिए प्रसिद्ध है जो काम्य इष्टियें हैं । इसी लिए यहां इष्टि का अर्थ काम्य इष्टि किया है, अभिप्राय यह है, कि दर्श पूर्णमास देवताओं का अन्न है और मनुष्य देवताओं का दिया हुआ खाता है, इस लिए दर्श पूर्णमास उस का आवश्यक कर्तव्य है । अतएव ये इष्टियें नित्यधर्म समझ कर करनी चाहियें, न कि काम्य इष्टियें समझ कर । काम्य इष्टियों के न करने से मनुष्य पापी नहीं होता, पर नित्य कर्म के त्याग से पापी बनता है ॥

† जातकर्म संस्कार में पहले सोने की सलाई से घी चटाते हैं फिर माता का दूध पिलाते हैं (देखो बृह० उप० ६ । ४ । २५) ॥

‡ जो सांस नहीं लेता, उस का सहारा दूध पर कैसे है ? इस का आशय यह सम्भव प्रतीत होता है, कि दूध की आहुति से सांस न लेने वाले जगत् को भी पुष्टि मिलती है ॥

अब जो यह कहते हैं, कि यदि कोई पुरुष बरस भर दूध से होम करता है, तो वह अपमृत्यु को जीत लेता है, यह ऐसा नहीं समझना चाहिये । जिस दिन ही वह (दूध से) होम करता है, उसी दिन ही वह अपमृत्यु को जीत लेता है; क्योंकि जो यह जानता है, वह देवताओं को खाने योग्य सब आहार देता है (अर्थात् दूध) । " वे अन्न क्यों क्षीण नहीं हो जाते, जब कि वह सदा खाए जा रहे हैं " (इस का उत्तर यह है) कि पुरुष * (विराट्) अक्षिति (क्षीण न होने वाला) है, वह इस अन्न को फिर २ उत्पन्न करता है ।

" जो इस अक्षिति (न क्षीण होने) को जानता है " कि निःसन्देह पुरुष अक्षिति है, वह इस अन्न को अपने हर एक ज्ञान से और कर्मों से उत्पन्न करता है । यदि वह इस को उत्पन्न न करे, तो यह क्षीण हो जाय । " वह अपने मुख से अन्न खाता है " यहां प्रतीक मुख के अर्थ में है इस लिए मुख से ॥

" वह देवताओं में मिल जाता है और वह अमृत का उपभोग करता है " यह (इस विद्या के जानने वाले की) प्रशंसा है ॥ २ ॥

भाष्य—परमात्मा ने अपनी सारी प्रजा के लिए सात प्रकार के अन्न उत्पन्न किये हैं, जिन में से वह अन्न जो हम प्रतिदिन खाते हैं, वह उस की सारी प्रजा का सांझा है, उस

---

* अन्न खाने वाले पुरुष अन्न को यज्ञ द्वारा बार २ उत्पन्न करते रहते हैं इसलिए यह अन्न क्षीण नहीं होता (शङ्कराचार्य्य)

पर सब का स्वत्व है। अतएव इस अन्न में से देवता, अतिथि, और पशु आदि के लिए भाग निकाला जाता है। यदि कोई इन के लिए न देकर केवल अपने लिए पकाता है, तो वह केवल पाप खाता है, जैसा कि शास्त्र में कहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यम्णं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋग् १० । ११ । ७ । ६)

पवित्र ज्ञान से शून्य पुरुष व्यर्थ ही अन्न को लाभ करता है, मैं स्पष्ट कहता हूं; कि वह (अन्न) उस का (आहार नहीं) मौत ही है। जो न अर्यमा को पुष्ट करता है (यज्ञ द्वारा देव पूजा नहीं करता) और न मित्र को पुष्ट करता है, वह अकेला खाने वाला केवल पापी बनता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व-किल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञ का बचा हुआ खाने वाले बन कर सब पापों से छूट जाते हैं। पर वे केवल पाप खाते हैं, जो अपने अर्थ ही पकाते हैं (गीता ३ । १३) अतएव यह अन्न जो हम खाते हैं, इस में सब का हिस्सा है, जो सब को देकर आप खाता है, वह पुण्यात्मा है और जिस के अन्न में से देवता, मनुष्य और पशुओं को भाग नहीं मिलता, वह पापी है।

संगति—सात अन्नों में से चार अन्नों की व्याख्या कर आये हैं। तीन अन्नों की व्याख्या का स्थान यद्यपि दर्श पूर्णमास के अनन्तर था, पर इन तीनों का आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक रूप विस्तृत विषय है, इस लिए वहां से अलग करके अब उन की व्याख्या आरम्भ करते हैं :-

'त्रीण्यात्मनेऽकुरुते' ति मनो वाचं प्राणं। तान्यात्मनेऽकुरुत। 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषमि' ति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव। तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति। यः कश्च शब्दो वागेव सा। एषा ह्यन्तमायत्ता एषा हि न। प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत् सर्वं प्राण एव। एतन्मयो वा आत्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः॥ ३॥

"तीन उस ने आत्मा के लिए बनाए" अर्थात्-मन, वाणी और प्राण। इन तीनों (अन्नों) को उस ने आत्मा के लिए बनाया। (जैसा कि लोग कहते हैं कि) "मेरा मन कहीं और था, मैंने नहीं देखा; मेरा मन कहीं और था, मैंने नहीं सुना' सचमुच मनुष्य मन से ही देखता है मन से ही सुनता है * कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा, श्रद्धा की कमी,

* मन दूसरी ओर हो, तो न सुनता है, न देखता है॥

धारणा (स्मृति), स्मृति की कमी, * लज्जा, बुद्धि, भय, यह सब कुछ मन ही है। इस लिए यद्यपि पीठ की तर्फ से किसी को छुआ जाय, तौ भी वह मन से जान लेता है †। जो कोई शब्द है, वह सब बाणी ही है। निःसन्देह यह अन्त तक पहुंचती है और यह अपने आप कुछ नहीं ‡। प्राण, अपान व्यान, उदान, समान यह सब जीवनशक्ति (अन) केवल प्राण ही है §। निःसन्देह यह आत्मा एतन्मय (इन्हीं पर निर्भर

---

* धृति=धारणा अर्थात् देह आदि को थामे रखना और अधृति=न थामे रखना (शंकराचार्य्य)।

† अगर किसी को सामने की तर्फ से छुएं, तो वह छूने वाले को आंखों से देख कर पहचान सकता है, पर यदि पीठ की तर्फ से छुएं, तो भी वह पहचान लेता है, वहां तो आंखों ने कोई सहायता नहीं दी, यह केवल मन ही है, जो उस को पहचानता है। इस तरह मन बाकी इन्द्रियों के साथ मिलकर भी और स्वतन्त्र भी अपनी अनन्त वृत्तियों से आत्मा को भोग भुगाता है॥

‡ बाणी किसी बात के प्रकट करने के लिए बोली जाती है। इसी से मनुष्य के सारे व्यवहार चलते हैं। इस प्रकार यह मनुष्य का बड़ा भारी प्रयोजन सिद्ध करती है। इस प्रयोजन के सिवा यह अपने आप कुछ नहीं।

§ प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान,। ये भिन्न २ कार्यों के हेतु से प्राण के ही नाम हैं। इन के भिन्न कार्य देखो बृह० उप० ३। ४। ६ प्रश्न० उप० ३। ४। ७॥

रखने वाला) है, वाणी पर निर्भर रखता है; मन पर निर्भर रखता है; प्राण पर निर्भर रखता है ॥ ३ ॥

संगति—इन्हीं तीन अन्नों का बाह्य जगत् में विस्तार कहते हैं :—

त्रयो लोका एत एव । वागेवायं लोको; मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥ त्रयो वेदा एत एव । वागेवर्ग्वेदः, मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥ देवाः पितरो मनुष्या एत एव। वागेव देवाः, मनः पितरः, प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥ पिता माता प्रजैत एव । मन एव पिता, वाङ्माता, प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥

तीनों लोक यही हैं । वाणी ही यह लोक (पृथिवी लोक) है, मन अन्तरिक्ष लोक है, प्राण वह लोक (द्यौ लोक) है ॥ ४ ॥ तीनों वेद यही हैं । वाणी ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है ॥ ५ ॥ देवता, पितर और मनुष्य यही हैं । वाणी ही देवता हैं, मन पितर हैं, प्राण मनुष्य हैं ॥ ६ ॥ पिता, माता और सन्तान यही है, मन ही पिता है, वाणी माता है प्राण प्रजा है ॥ ७ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्य मविज्ञातमेत एव । यत् किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं, वाग्घि विज्ञाता, वागेनं तद् भूत्वाऽवति ॥८॥

जो कुछ जाना हुआ है, जिस के जानने की इच्छा है, और जो अज्ञात है, वह यही (तीनों) हैं । जो कुछ जाना

हुआ है, वह वाणी का रूप है, क्योंकि वाणी जानी हुई है, वाणी इसकी वह (विज्ञातवस्तु) बन कर रक्षा करती है* ॥८॥

यत् किञ्च विजिज्ञास्यं, मनसस्तद्रूपं। मनो हि विजिज्ञास्यं, मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ९ ॥ यत् किञ्चाविज्ञातं, प्राणस्य तद्रूपम्। प्राणो ह्यविज्ञातः, प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

जिस वस्तु के जानने की इच्छा होनी चाहिये, वह मन का रूप है। क्योंकि जिस के जानने की इच्छा होनी चाहिये, वह मन है। मन वह (विजिज्ञास्य वस्तु) बन कर इस की रक्षा करता है † ॥ ९ ॥ जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राण का रूप है, क्योंकि प्राण अविज्ञात है। प्राण वह (अविज्ञात) बन कर रक्षा करता है ‡ ॥ १० ॥

---

* हर एक विज्ञात वस्तु वाणी का रूप है, जो पुरुष वाणी की इस विभूति को जानता है, उस पुरुष को जो वस्तुएं विज्ञात हो चुकी हैं, उन से जो लाभ होता है, वह वास्तव में वाणी ही उस को उस वस्तु के रूप से लाभ पहुंचाती है, क्योंकि वे वस्तुएं वाणी द्वारा ही जानी गई हैं।

† मनुष्य को जो नया २ ज्ञान लाभ करने की इच्छा लगी रहती है, यह मन ही की चेष्टा है, मन इस भान्ति आत्मा का भला करता है।

‡ जिस तरह पिता बेमालूम ही पुत्र का भला करता है, इसी तरह प्राण बेमालूम ही आत्मा का भला करता है,

सगति—अब वाणी, मन और प्राण का समष्टि रूप दिखलाते हैं :—

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः । तद् यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥११॥

उस वाणी का (जो प्रजापति का अन्न है) शरीर पृथिवी है, यह अग्नि ज्योतिरूप (उस की जोत) है। सो जितनी बड़ी ही यह वाणी है, उतनी ही पृथिवी है, उतनी ही यह अग्नि है * ॥ ११ ॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं, ज्योतीरूपमसावादित्यः । तद् यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यः । तौ मिथुनꣳसमैतां, ततः प्राणोऽजायत, स इन्द्रः स एषोऽसपत्नः । द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥१२॥

जगत् में जो कोई वस्तु इस प्रकार मनुष्य का भला करती है, वह प्राण का रूप है।

* यहां वाणी का समष्टि स्वरूप दिखलाया है। वाणी में जो शब्दों के प्रकाश करने की शक्ति है, वह यह अग्नि है " अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् "=अग्नि बाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुई (ऐत० उप० १ । २) सो यह अग्नि सारी पृथिवी में पूर्ण है, इस लिए वाणी समष्टिरूप में उतनी है, जितनी कि यह अग्नि वा पृथिवी है। इसी प्रकार आगे मन और प्राण का भी समष्टिरूप जानो।

अब इस मन का शरीर द्यौ है, वह सूर्य ज्योतिरूप है। सो जितना ही मन है, उतना द्यौ है, उतना वह सूर्य है। वे दोनों (अग्नि और सूर्य) जोड़े संगत हुए, तब प्राण (वायु) उत्पन्न हुआ, और वह इन्द्र है, * और वह बिना शत्रु (प्रतिपक्षी) होता है, जो इस (रहस्य) को जानता है, उस का शत्रु (प्रतिपक्षी) नहीं होता है ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रः। तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः । त एते सर्वएव समाः सर्वेऽनन्ताः। स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयति। अथ यो हैताननन्तानुपास्ते, अनन्तं स लोकं जयति ॥ १३ ॥

अब इस प्राण का शरीर जल है, † और वह चन्द्र ज्योति रूप है । सो जितना ही प्राण है उतना ही जल है उतना ही वह चन्द्र है।

सो ये सारे ही बराबर हैं, सारे ही अनन्त हैं ‡ । वह जो इन को अन्त वाला मान कर उपासता है, वह अन्त वाले

---

* देखो निरुक्त (७ । १)

† जहां जल है, वहां जीवन है, इसी लिए जल का नाम जीवन है।

‡ व्यष्टिरूप में ये अन्त वाले हैं और समष्टिरूप में अनन्त है ॥

लोक को ही जीतता है, पर जो इन को अनन्त मान कर उपासता है, वह अनन्त लोक को जीतता है * ॥ १३ ॥

संगति—प्राण की समष्टिरूप में जल और चन्द्र के साथ एकता बतलाई है। अब उसी चन्द्र को विराट्रूप वर्णन करते हैं :—

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः। तस्य रात्रय एव पञ्चदश कलाः ध्रुवैवास्य षोडशी कला। स रात्रिभिरेवाच पूर्यतेऽप च क्षीयते। सोऽमावस्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते। तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यात्, अपि कृकलासस्य, एतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

वह यह वह प्रजापति बरस है, जिस की सोलह कला हैं। रात्रियें (१५ तिथियें) उस की पन्द्रह कला हैं। अटल रहने वाली (ध्रुवा) इस की सोलहवीं कला है † वह रात्रियें (तिथियों) से ही पूर्ण होता है और क्षीण होता है ‡ वह

---

* समष्टि स्वरूप में मन वाणी और प्राण सारे व्यापक हैं और इसी लिए इन का अन्त (हद्द) नहीं है।

† अमावस्या के दिन जो चांद की कला अदृश्य रहती है॥

‡ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से लेकर पौर्णमासी तक चन्द्रमा एक २ कला से प्रतिदिन बढ़ता है। और कृष्णपक्ष में क्रमशः एक २ कला से घटता है, यहां तक कि अमावस्या को उसकी एक अटल कला अदृश्य रह जाती है।

अमावस्या की रात्रि को इस सोलहवीं कला द्वारा हर एक प्राणधारी में प्रवेश कर फिर प्रातःकाल उत्पन्न होता है। इस लिए इस रात्रि (अमावस्या) को इसी (चन्द्र) देवता की पूजा के लिए किसी प्राणधारी के प्राण को न काटे; छिपकली के भी ॥ १४ ॥

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽय मेव स योऽयमेवंवित्पुरुषः । तस्य वित्तमेव पंचदश कला, आत्मैवास्य षोडशी कला । स वित्तेनैवाचपूर्यतेऽपचक्षीयते । तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं । तस्माद् यद्यपि सर्वज्यानिं जीयते, आत्मना चेज्जीवति, प्रधिनाऽगादित्ये वाऽऽहुः ॥ १५

निःसन्देह वह सोलह कला वाला प्रजापति जो बरस है. वह यही है, जो यह इस विद्या का जानने वाला पुरुष है। धन ही उस की (बढ़ने घटने वाली) पन्द्रह कला हैं, आत्मा (अपना आप, शरीर) ही इस की सोलहवीं कला है। वह धन से ही पूर्ण होता है और क्षीण होता है। सो यह (पहिये की) नाभि है जो यह आत्मा (शरीर) है और धन प्रधि है *। इस लिए यद्यपि वह हर एक वस्तु को खो देता है, पर यदि वह आत्मा से जीता है, तो (लोग) यही कहते हैं, कि यह प्रधि से जाता रहा है (जो फिर पूरी की जा सकती है) ॥१५॥

---

* नाभि=पहिये की नाफ। प्रधि=गोल पहिया बनाने में जो छोटे २ डंडे लगाए जाते हैं, वह हर एक डंडा प्रधि कहलाता है ॥

भाष्य—यद्यपि धन से ही मनुष्य बढ़ता है और घटता है, पर धन उन कलाओं की नाईं है, जो बार २ चन्द्र को पूर्ण करती हैं,और क्षीण करती हैं। मनुष्य स्वयं उस ध्रुव कला की नाईं है, जो सदा बनी रहती है, और जिस के चारों ओर फिर सारी कलाएं इकट्ठी हो जाती हैं। अथवा धन जिस चक्र की प्रधियें हैं, मनुष्य स्वयं उसी चक्र की नाभि है, नाभि प्रतिष्ठित रहती है और प्रधियें टूटती और लगती रहती हैं॥

सं०—मनुष्य की जो धन में इच्छा है, उस का फल कर्म है, और जो स्त्री में इच्छा है उसका फल पुत्र है, अब कर्म पुत्र और विद्या का जो फल है, उसको अलग २ दिखलाते हैं॥

अथ त्रयो वाव लोका, मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः। देवलोको वै लोकानाᳫंश्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशᳫंसन्ति॥ १६॥

फिर तीन ही लोक हैं, मनुष्यलोक (मनुष्यों का लोक) पितृलोक (पितरों का लोक) और देवलोक (देवताओं का लोक)। सो इस मनुष्य लोक को पुत्र से जीत सकते हैं, किसी दूसरे कर्म से नहीं। कर्म से पितृलोक को, और विद्या से देवलोक को (जीत सकते हैं)। निःसन्देह देवलोक सब लोकों में से श्रेष्ठ है, इसलिए विद्या (ज्ञान) की प्रशंसा करते हैं॥१६॥

संगति—यह लोक पुत्र से कैसे जीता जाता है? यह दिखलाते हैं :-

अथातः संप्रत्तिः—यदा प्रैष्यन् मन्यते, अथ पुत्रमाह 'त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञस्त्वं लोक' इति। स पुत्रः प्रत्याह, 'अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक' इति। यद्वैकिञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषां सर्वेषां यज्ञ इत्येकता। ये वै के च लोकास्तेषां सर्वेषां लोक इत्येकता। एतावद्वा इद॰ँसर्वं एतन्मा सर्व॰ँसन्नयमितोऽभुनजदिति, तस्मात् पुत्र-मनुशिष्टं लोक्यमाहुः। तस्मादेनमनुशासति, स यदेवंविद-स्माल्लोकात् प्रैति, अथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति। स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाऽकृतं भवति, तस्मादेन॰ँसर्वस्मात् पुत्रो मुञ्चति, तस्मात् पुत्रो नाम। स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति, अथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥१७॥

अब इस के आगे सम्प्रत्ति * (कहते हैं)—जब मनुष्य समझता है, कि मैं मरने वाला हूं, तब वह पुत्र को कहता है, 'तू ब्रह्म (वेद जो पिता ने पढ़ा है) है; तू यज्ञ (जो पिता से किये गए हैं) है; तू लोक (जो पिता ने जीते हैं) है'। वह पुत्र उत्तर देता है, 'मैं ब्रह्म हूं, मैं यज्ञ हूं, मैं लोक हूं' जो कुछ पढ़ा गया है, उस सारे की 'ब्रह्म' यह एकता है †। जो कोई

* सम्प्रत्ति=सौंपना, पिता अपने मरने के समय इन वचनों में पुत्र को अपना धर्म्म कर्म्म सौंप कर जाता है ॥

† 'ब्रह्म इस एक शब्द में वह सब कुछ भरा हुआ है, जो कुछ पिता ने इस लोक में सीखा है और जो सीखना शेष

यज्ञ हैं, उन सब की 'यज्ञ' यह एकता है। जो कोई लोक हैं, उन सब की 'लोक' यह एकता है। इतना ही यह सब कुछ है (जो पिता से किया गया है अर्थात् विद्या, यज्ञ और लोक) सो इस (पुत्र ने) यह सब कुछ बन कर इस लोक से मुझे पालना है यह (पिता का विश्वास) है *। इस लिए उस पुत्र को, जिस को (पिता ने) यह अनुशासन कर दिया है, लोक के योग्य कहते हैं, अतएव पुत्र को अनुशासन करते हैं। वह (पिता) जो ऐसा जानने वाला है, जब वह इस लोक से चलता है, तो वह इन्हीं प्राणों (मन, वाणी और प्राण) के साथ पुत्र में प्रवेश करता है †। यदि उसने किसी छिद्र (विघ्न वा त्रुटि) से कोई काम पूरा नहीं किया होता, तो उस सारी कमी से इस को पुत्र छुड़ाता है, इसी लिए पुत्र नाम है ‡।

रहा है। इसी प्रकार 'यज्ञ' इस एक शब्द में वे सारे यज्ञ हैं जो उस ने किये हैं और जो करने हैं। और 'लोक' इस एक शब्द में वे सारे लोक हैं जो पिता ने जीते हैं और जो जीतने हैं। अब पिता इन सबके लिये पुत्र को अपना प्रतिनिधि छोड़ता है॥

* यह सौंपकर पिता समझता है, कि पुत्र ने मेरे कर्तव्य को अपने ऊपर उठा लिया हैं।

† अपना सारा कर्तव्य पुत्र को सौंप दिया है, इस लिए कहा है कि पुत्र में प्रवेश करता है।

‡ पुत्र=पुर्+त्र-(पुर्) पूरा करना और (त्रा) बचाना अर्थात् पिता की कमी को पूरा करके उस कमी से पिता को छुड़ाता है॥

वह अपने पुत्र के द्वारा ही इस लोक में प्रतिष्ठित रहता है* तब उस (पिता) में न मरने वाले दैव प्राण (मन, वाणी, प्राण) प्रवेश करते हैं ॥ १७ ॥

पृथिव्यै चैन मग्नेश्च दैवी वागाविशति। सा वै दैवी वाग्, यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति। तद्वै दैवं मनः, येनानन्द्येव भवति, अथो न शोचति ॥ १९ ॥

पृथिवी से और अग्नि से उस (पिता) में दैवी वाणी प्रवेश करती है† दैवी वाणी सचमुच वह है, जिस से वह जो २ कुछ कहता है वही हो जाता है ॥ १८॥ द्यौ से और सूर्य से उस में दैव मन प्रवेश करता है, दैव मन सचमुच वह है, जिस से वह केवल आनन्दित रहता है कभी शोक में नहीं पड़ता ॥ १९ ॥

---

* जिस ने अपने पुत्र को यह शिक्षा दी है, वह उस पुत्र के रूप से इसी लोक में प्रतिष्ठित है, उस को मरा हुआ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस लोक में 'इस का यह दूसरा आत्मा अर्थात् पुत्र पुण्य कर्मों के लिये प्रतिनिधि है' (ऐत० उप० २ । ५) .

† दैवी वाणी पृथिवी और अग्नि स्वरूप है, जो इस व्यष्टि वाणी का उपादान है । इसी प्रकार दैव मन और दैव प्राण हैं । अपने संकल्पों के संस्कार रखने वाले मन वाणी और प्राण को पिता अब अपने पुत्र में संचार कर देता है और पिता को अब ये दैव प्राण मिलते हैं ।

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति । स वै दैवः प्राणो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथते, अथो न रिष्यति । स एवंवित् सर्वेषां भूतानामात्मा भवति । यथैषा देवतैवं । स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति एवꣳ हैवं विदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति । यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्ति, अमैवासां तद्भवति । पुण्यमेवामुं गच्छति, न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥ २० ॥

जलों से और चन्द्र से इस में दैव प्राण आवेश करता है। दैव प्राण सचमुच वह है, जो चलता हुआ वा न चलता हुआ नहीं थकता है, और इस लिए नष्ट नहीं होता है । वह जो इस (रहस्य) को जानता है, वह सब भूतों का आत्मा (अपना आप) होता है । जैसा कि यह देवता (प्राण) है, इस प्रकार (होता है) और जैसा कि सारे प्राणधारी इस देवता=(प्राण) की रक्षा करते हैं, इसी प्रकार इस रहस्य के जानने वाले की सब प्राणधारी रक्षा करते हैं । जो कुछ कि ये प्रजाएं शोक करती हैं, वह (शोक करना) इन (प्रजाओं) के साथ ही होता है । उस को केवल पुण्य ही पहुंचता है, निःसन्देह देवताओं को पाप नहीं पहुंचता * ॥ २० ॥

* इस रहस्य का जानने वाला यद्यपि सब का आत्मा (अपना आप) बन जाता है, पर उन के शोक दुःख से लिप्त नहीं होता, क्योंकि देवताओं के पास पाप की पहुंच नहीं,

अथातो व्रत मीमांसा । प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे । तानि सृष्टान्यन्योऽन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्द-ध्रे; द्रक्षाम्यहमिति चक्षुः; श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्; एव-मन्यानि कर्माणि यथा कर्म। तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे, तान्याप्नोत्, तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्द्ध । तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्, श्राम्यति चक्षुः, श्राम्यति श्रोत्रम्, अथेममेव नाप्नोद्, योऽयं मध्यमः प्राणः। तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठः, यः संचरंश्चासंचरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति । हन्ता-स्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मा-देत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन वाव तत् कुलमाचक्षते, यस्मिन् कुले भवति, य एवं वेद । य उ हैवंविदा स्पर्धते ऽनुशुष्यति, अनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥२१॥

जिस का फल उन को शोक हो। वे केवल पुण्यात्मा हैं और इस लिए एकमात्र आनन्द भोगते हैं। यह जीवन की सब से उच्च अवस्था है कि मनुष्य सब का आत्मा बन कर सब के भले में तत्पर रहे, उन के शोक और दुःख मिटाए, आप शोक और दुःख में न पड़े । एक धार्मिक पुरुष का चित्त दूसरों के दुःख में दुःखी होता है । किन्तु सच्चा धार्मिक वह है, जो अपनी दैवी शक्तियों से दूसरों के दुःखों को दूर कर देता है, पर उसको संकट नहीं सताते, बल्कि वह उनके संकट काटता आनन्द से भरपूर रहता है।

अब आगे व्रत की मीमांसा * (करते हैं) प्रजापति ने कर्मों (कर्म करने वाले इन्द्रियों) को रचा। वे जब रचे गए तो उन्हों ने एक दूसरे के साथ स्पर्धा की (अपने काम में एक दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न किया) वाणी ने (व्रत) लिया, कि मैं बोलती ही रहूंगी (अपने बोलने के धर्म को कभी बन्द नहीं करूंगी); नेत्र ने (व्रत लिया कि) मैं देखता रहूंगा, श्रोत्र ने व्रत लिया, कि मैं सुनता रहूंगा । इसी प्रकार दूसरे कर्मों (इन्द्रियों) ने भी अपने २ कर्म के अनुसार (व्रत लिया)। उन को मृत्यु ने थकावट (का रूप) बन कर वश कर लिया, और पकड़ लिया और पकड़ कर उन को (अपने काम से) रोक दिया । इस लिए वाणी थक ही जाती है, आंख थक जाती है, कान थक जाता है । पर (मृत्यु ने) केवल इस को नहीं पकड़ा, जो यह मध्यम प्राण (मुख्य प्राण) है । (तब उस को) उन (इन्द्रियों) ने जानने का प्रयत्न किया (और कहा) निःसन्देह यह हम में से श्रेष्ठ है, जो चलता हुआ और न चलता हुआ न थकता है और न नष्ट होता है । अच्छा, हम सारे इसी का रूप बन जाएं ' । सो वे सारे उसी का रूप बन गए, इस कारण से, वे (इन्द्रिय) इस से=(प्राण के नाम से) बोले जाते हैं अर्थात् प्राण । जो इस (रहस्य) को जानता है, वह जिस कुल में होता है, उस (के नाम) से वह कुल बोला जाता है । और जो इस (रहस्य) के जानने वाले के साथ

---

* व्रत की मीमांसा=व्रत का विचार, अर्थात् इस व्यष्टि समष्टि में कौन अपने व्रत को दृढ़ धारण किये हुए है, जिस की उपासना, जिस का व्रत हमें धारण करना चाहिये ॥

स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और सूख कर अन्ततः मर जाता है। यह अध्यात्म है=(शरीर के सम्बन्ध में विचार है) ॥२१॥

संगति--अब अधिदैवत (देवताओं के सम्बन्ध में) कहते हैं--

अथाधिदैवतं। ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे, तप्स्याम्यहमित्यादित्यः, भास्याम्यहमितिचन्द्रमाः, एवमन्या देवता यथा दैवतं। स यथा प्राणानां मध्यमः प्राणः, एवमेतासां देवतानां वायुः। म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः। सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

मैं जलती ही रहूंगी, यह अग्नि ने (व्रत) लिया, मैं तपता रहूंगा, यह सूर्य ने; मैं चमकता रहूंगा, यह चन्द्रमा ने; इसी प्रकार दूसरे देवताओं ने अपने २ कर्म के अनुसार (व्रत लिया) सो जैसा प्राणों में मध्यम प्राण (था) इसी प्रकार इन देवताओं में वायु (रहा)। दूसरे देवता अस्त हो जाते हैं, पर वायु नहीं। सो यह अस्त न होने वाला देवता है, जो वायु है ॥२२॥

अथैष श्लोको भवति *-"यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति" इति। प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति। "तं

* यह एक ही श्लोक दो टुकड़ों में पढ़ा गया है। पहला आधा पढ़ कर उस के साथ ही उपनिषद् ने उस की व्याख्या करदी है, और फिर दूसरा आधा पढ़कर उस के साथ उस की व्याख्या करदी है श्लोक का हिस्सा 'अन्योक्ति' के अन्दर है ॥

देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्वः " इति । यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त, तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च, नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति । यद्यु चरेत् समापिपयिषेत्, तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

अब (इस विषय में) यह श्लोक है-

' जिस से सूर्य उदय होता है और जिस में अस्त होता है ' निःसन्देह यह प्राण से उदय होता है, और प्राण में अस्त होता है। ' देवताओं ने उस (प्राण) को अपना धर्म बनाया वही आज है, वही कल भी ' जो (व्रत) इन्होंने उस समय धारण किया था, उसी को अब कर रहे हैं। इस लिए चाहिये कि मनुष्य एक ही व्रत का आचरण करे। सांस बाहर छोड़े और सांस खींचे, न हो कि पाप जो कि मौत है वह मुझे पकड़ ले * । और यदि (व्रत का) आचरण करे, तो उस को पूरा करने की इच्छा करे, ऐसा करने से वह इस देवता (प्राण) के सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ २३ ॥

छटा ब्राह्मण-

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येत-

* प्राण जिस प्रकार सांस छोड़ने और खींचने के अपने काम को बन्द नहीं करता, इस प्रकार अपने व्रत को धारण करे, क्योंकि व्रत को न निबाहना ही पाप है और पाप ही मृत्यु है॥

देषामुक्थम्, अतोहि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषाँ साम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्, एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

निःसन्देह यह (जो कुछ है) त्रिक है (तीन वस्तुएं हैं) नाम रूप और कर्म । उन में से नामों (का वर्णन करते हैं)–वाणी इन का उक्थ है, क्योंकि इसी से सारे नाम निकलते हैं । यह इन का साम है, क्योंकि यह सारे नामों के बराबर (सम) है । यह इन का ब्रह्म है क्योंकि यह सारे नामों को सहारा देती है * ॥ १ ॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम्, अतोहि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम, एतद्धि सर्वै रूपैः समम्, एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

अब रूपों, (आकारों) का (वर्णन करते हैं) नेत्र इन का उक्थ है, क्योंकि इसी से सारे रूप निकलते हैं । यह इन का साम है, क्योंकि यह सारे रूपों के बराबर है, यह इन का ब्रह्म है, क्योंकि यह सारे रूपों को सहारा देता है ॥ २ ॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषा मुक्थम्, अतोहि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैः कर्मभिः समम्,

---

* उक्थ=ऋचाओं का समूह । यहां असली तत्व से अभिप्राय है, जो नामों का मूल है । साम=सामवेद का गीत । यहां बराबर के अर्थ से अभिप्राय है । ब्रह्म=प्रार्थना का मन्त्र, यहां सहारा देने वाले से अभिप्राय है ।

एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नेतत् त्रयं । तदेतदमृतं सत्येन च्छन्नं । प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं, ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

अब कर्मों का-शरीर इन का उक्थ है, क्योंकि इस से सारे कर्म उत्पन्न होते हैं । यह इन का साम है, क्योंकि यह सारे कर्मों के बराबर है । यह इन का ब्रह्म है, क्योंकि यह सारे कर्मों को सहारा देता है ॥

सो यह तीन हुआ (नाम, रूप, कर्म) एक है अर्थात् यह आत्मा * और आत्मा एक हुआ यह तीन है । सो यह अमृत है जो सत्य से ढपा हुआ है । निःसन्देह प्राण अमृत है, नाम और रूप सत्य हैं, उन दोनों से प्राण ढपा हुआ है ॥३॥

दूसरा अध्याय पहला ब्राह्मण (अजातशत्रु ब्राह्मण)

संगति—पहले अध्याय में मुख्य करके प्राण का और विराट् का वर्णन किया है । अब इस अध्याय में प्रधानतया ब्रह्मविद्या का वर्णन है । यह वर्णन एक पुराना सम्वाद है, जो गार्ग्य और राजा अजातशत्रु के मध्य में हुआ । गार्ग्य यद्यपि ब्राह्मण था, पर उसे ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान नहीं था, वह ब्रह्म को सूर्य चन्द्र आदि व्यष्टि में ही उपासता था, जो एक सीमा वाला है । और अजातशत्रु यद्यपि क्षत्रिय था, पर वह ब्रह्म को पूर्णतया जानता था, वह जानता था, कि ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है ॥

---

* आत्मा=शरीर (शंकराचार्य्य) ॥

दृप्त बालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रुं काश्यं 'ब्रह्म ते ब्रवाणीति'। स होवाचाजातशत्रुः, 'सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो,जनको जनक इति वै जना धावन्ति' इति ॥ १ ॥

* बलाका का पुत्र गार्ग्य भारी विद्वान् और अभिमानी पण्डित था। उस ने काशी के (राजा) अजातशत्रु को कहा, मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूंगा। अजातशत्रु ने कहा (तुम्हारे) इस वचन के लिए हम हज़ार (गौएं) देते हैं । क्योंकि सब लोग जनक जनक कहते हुए भागे जाते हैं † ॥ १ ॥

---

* कौषीतकि उपनिषद् अध्याय ४ से मिलाओ ॥

† जनक एक बड़ा प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता और राजा था, इस लिये सारे विद्वान् लोग उसी की सभा में इकट्ठे होते जाते थे। इस लिए यह कहा है कि लोग जनक २ कहते हुए उसी की ओर भागे जाते हैं, सुनने वाले भी और सुनाने वाले भी। सो अजातशत्रु उस को सहस्र गौएं इतनी बात के लिए ही देता है, कि इस ने जनक की तरफ न भाग कर मुझे उपदेष्टव्य समझा है । अजातशत्रु चाहता है कि कोई पूरा विद्वान् उस को मिले और वह उस को बहुत कुछ दे, क्योंकि सारे विद्वान् लोग जनक की ओर ही भागे जाते हैं, और उसी की सभा में रहते हैं। यद्वा यहां दूसरा जनक शब्द पिता के अर्थ में है, पिता अर्थात् रक्षा करने वाला, वा ब्रह्मविद्या का सिखलाने वाला ॥

सहोवाच गार्ग्यः, 'य एवासावादित्ये पुरुषः, एत मेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मा मैतस्मिन् संवदिष्ठाः। अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेतिवा अहमेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति॥ २॥

उस गार्ग्य ने कहा–' वह पुरुष जो सूर्य में (और नेत्र में *) है, मैं इसी को ही ब्रह्म (के तौर पर) उपासता हूं। अजातशत्रु ने (उसे) कहा ' नहीं नहीं ' इस विषय में मुझे न बतलाओ=(मैं यह पहले ही जानता हूं) ' मैं इस को (सूर्य में स्थित पुरुष को) निःसन्देह ऐसा समझ कर उपासता हूं; कि यह सब से ऊपर स्थित है, सब प्राणियों का सिर है और राजा है '। जो इस को ऐसा जान कर उपासता है, वह ऊपर स्थित (श्रेष्ठ, बड़ा) होता है, सब प्राणियों का मूर्धा (शिरोमणि) होता है, राजा होता है † ॥ २॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवासौ चन्द्रे पुरुषः, एत मेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। स होवाचाजातशत्रुः, मामै तस्मिन् संव-

---

* गार्ग्य के सारे वचनों की व्याख्या में स्वामि शंकराचार्य ने एक २ अध्यात्म अर्थ (जैसे यहां नेत्र में) अपनी ओर से बढ़ा दिया है, उस को हमने बन्धनी के अन्दर लिख दिया है॥

† "तं यथा यथोपासते तदेव भवति"=उस को जैसे २ उपासते हैं, वही होता है॥

दिष्ठाः, बृहत् पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, अहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति, नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

गार्ग्य ने कहा 'यह जो चन्द्र में (और मन में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे न बतलाओ। मैं इस को निःसन्देह एक बड़ा, श्वेत वस्त्रों वाला, सोम, राजा समझ कर उपासता हूं'। जो इस को ऐसा जान कर उपासता है, (उस के घर) दिन प्रति दिन सोम रस बहता है और अधिक बहता है, * और इस का अन्न क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवासौ विद्युति पुरुषः, एत मेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामै तस्मिन् संवदिष्ठाः, तेजस्वीति वा अह मेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, तेजस्वी ह भवति, तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति।४

गार्ग्य ने कहा, 'यह जो विद्युत् (बिजली) (और हृदय में) पुरुष है मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं। अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे न बतलाओ, मैं इस को निःसन्देह तेजस्वी जानकर उपासता हूं'। जो इस को इस प्रकार

---

* सुत और प्रसुत शब्दों से मुख्य और गौण सोम यज्ञों से तात्पर्य है। मुख्य को प्रकृति और गौण को विकृति कहते हैं, अर्थात् दोनों प्रकार के सोमयज्ञ उस उपासक के घर होते हैं ॥

उपासता है वह तेजस्वी होता है और उस की सन्तान तेज वाली होती है ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवायमाकाशे पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। स होवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, पूर्णमप्रवर्तीति वा अह मेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात् प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'वह जो आकाश में (और हृदय के आकाश में) पुरुष है, मैं उसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा: 'नहीं नहीं' इस विषय में मुझे मत बतलाओ, मैं निःसन्देह इस को पूर्ण और न मिटने वाला ऐसा मान कर उपासता हूं'। जो इसको इस प्रकार उपासता है, वह सन्तान से और पशुओं से पूर्ण होता है, और इस की सन्तान इस लोक से नहीं उखड़ती ॥ ५ ॥

सहोवाच गार्ग्यः, 'य एवायं वायौ पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजाशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवादिष्ठाः, इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अह मेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥ ६ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह वायु में (और प्राण में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं

नहीं' इस विषय में मुझे नहीं बतलाओ, मैं इस को वैकुण्ठ इन्द्र, न हारने वाली सेना (मरुतों की) उपासता हूं'। जो इस प्रकार इस की उपासना करता है, वह जीतने के स्वरूप वाला, न हारने वाला, अपने शत्रुओं को जीतने वाला होता है ॥ ६ ॥

सहोवाच गार्ग्यः, 'य एवायमग्नौ पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवादिष्ठाः विषासहिरितिवा अह मेतमुपासे' इति। स य एत मेवमुपास्ते, विषासहिर्ह भवति, विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'अग्नि में (और वाणी में) जो पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा। 'नहीं नहीं' मुझे यह नहीं बताओ, मैं इस को बड़ा सहारने वाला (बड़ी शक्ति वाला) ऐसा मान कर उपासता हूं'। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, वह बड़ा सहारने वाला होता है, और इसकी सन्तान बड़ा सहारने वाली होती है ॥७॥

सहोवाच गार्ग्यः, 'य एवायमप्सु पुरुषः, एत मेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपासे' इति। स य एत मेवमुपास्ते, प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपम्, अथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह जलों में (और वीर्य और हृदय में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने

(उसे) कहा 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इस को प्रतिरूप (ठीक सदृश) समझ कर उपासता हूं, जो इस को इस प्रकार उपासता है, इस को वह वस्तु प्राप्त होती है, जो प्रतिरूप (अनुकूल) है, न कि अप्रतिरूप (प्रतिकूल) और प्रतिरूप (अपने सदृश) ही इस से (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥८॥

सहोवाच गार्ग्यः, 'य एवायमादर्शे पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । सहोवाचाजातशत्रुः, 'मा मैतस्मिन् संवदिष्ठाः । रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपासे' इति । स य एतमेवमुपास्ते, रोचिष्णुर्ह भवति, रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवति, अथो यैः संनिगच्छति, सर्वांस्तानातिरोचते ॥ ९ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह शीशे में पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं' । अजातशत्रु ने (उसे) कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ । निःसन्देह मैं इस को चमकने वाला है ऐसा समझकर उपासता हूं' । जो इस को इस प्रकार उपासता है, वह स्वयं चमकने वाला होता है, उस की सन्तान चमकने वाली होती है, और जिन के साथ वह इकट्ठा रहता है, उन सब को पूरा चमका देता है ॥ ९ ॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवायं पश्चाच्छब्दोऽनूदेति, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति । स होवाचाजातशत्रुः, मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, असुरिति वा अहमेतमुपासे' इति । स य एतमेवामुपास्ते, सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति, नैनं पुरा कालात्

प्राणो जहाति ॥ १० ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जब कोई चलता है, तो जो यह पीछे शब्द प्रकट होता है, इसी को मैं ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इस को निःसन्देह प्राण है ऐसा समझ कर उपासता हूं' जो इस को इस प्रकार उपासाता है, वह इस लोक में पूरी आयु को भोगता है, प्राण इस को अपने काल से पहले नहीं त्यागता है ॥ १० ॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवायं दिक्षु पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। स होवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेत मुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, द्वितीयवान् ह भवति, नास्माद्गणश्छिद्यते ॥ ११ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह दिशाओं में पुरुष है, मैं इस को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने कहा 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, निःसन्देह मैं इस को दूसरा कभी हम से पृथक् न होने वाला समझ कर उपासता हूं' जो इस को इस प्रकार उपासता है, वह दूसरे वाला (साथियों वाला) होता है, इस से (इस का) गण (साथी और सेवक) अलग नहीं होता ॥ ११ ॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवायं छायामयः पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन्

संवदिष्ठाः, मृत्युरिति वा अहमेतमुपासे' इति। स य एत-मेवमुपास्ते, सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति, नैनं पुराकाला-न्मृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह छायामय (छाया में, और अन्धकार में) पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इस को निःसन्देह मृत्यु है ऐसा समझ कर उपासता हूं'। जो इस को इस प्रकार उपासता है, वह इस लोक में पूरी आयु को पहुंचता है, और अपने समय से पहले इस को मृत्यु नहीं आती है ॥ १२ ॥

स होवाच गार्ग्यः, 'य एवायमात्मनि पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे' इति। सहोवाचाजातशत्रुः, 'मामैतस्मिन् संवदिष्ठाः, आत्मन्वीति वा अहमेतमुपासे' इति। स य एतमेवमुपास्ते, आत्मन्वी ह भवति, आत्मन्विनी हास्य प्रजा भवति, स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥ १३ ॥

गार्ग्य ने कहा, 'जो यह आत्मा में * पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्म उपासता हूं'। अजातशत्रु ने (उसे) कहा, 'नहीं नहीं, इस विषय में मुझे नहीं बताओ, मैं इस को आत्मा वाला है ऐसा समझ कर उपासता हूं'। जो इस को इस प्रकार उपासता है, वह आत्मा वाला होता है, और उस की सन्तान

* आत्मा में प्रजापति में, बुद्धि में, हृदय में, (शङ्कराचार्य्य)

आत्मा वाली होती है * तब वह गार्ग्य चुप हो गया ॥१३॥

सहोवाचाजातशत्रुः, 'एतावन्नू ३' इति। 'एतावद्धि' इति। 'नैतावता विदितं भवति' इति। स होवाच गार्ग्यः, 'उप त्वा यानि' इति ॥ १४ ॥

अजातशत्रु ने कहा, 'बस इतना ही है' (उस ने उत्तर दिया) 'हां इतना ही है'। (अजातशत्रु ने कहा) 'इतने से तो (ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप) विदित नहीं होता' गार्ग्य ने कहा, तो मुझे (शिष्य बनकर) अपने पास आने की आज्ञा देवें † ॥ १४ ॥

सहोवाचाजातशत्रुः, 'प्रतिलोमं चैतद्, यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्, 'ब्रह्म मे वक्ष्यतीति' व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामि' इति, तं पाणावादायोत्तस्थौ, तौ ह पुरुषꣳसुप्तमाजग्मतुः। तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे 'बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्' इति। स नोत्तस्थौ। तं पाणिना पेषं बोधयांचकार, सहोत्तस्थौ ॥ १५ ॥

अजातशत्रु ने कहा, 'यह उलट है, कि ब्राह्मण क्षत्रिय के पास आए, "इसलिए कि यह मुझे ब्रह्म का उपदेश करेगा"।

---

* आत्मा वाला, जिस का आत्मा अपने वश में है।

† अक्षरार्थ है, मैं तेरे पास पहुँचूं अर्थात् तुझ से उपनीत होऊं, तुम मेरा उपनयन करो। उपनयन=गुरु के पास ले जाना। उपयान=गुरु के पास जाना।

सो मैं तुझे यूं ही (उपनयन के विना ही) निवेदन करूंगा, यह कह कर उस को हाथ से पकड़ कर उठ खड़ा हुआ। अब वे दोनों एक सोए हुए पुरुष के पास आए। उस को इन नामों से बुलाया, 'हे बड़े श्वेत वस्त्रों वाले, सोम, राजन्' *। वह नहीं उठा। तब उस को हाथ से मलकर जागाया, वह उठ खड़ा हुआ॥

स होवाचाजातशत्रुः, 'यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद्, य एष विज्ञानमयः, क्वैष तदाऽभूद् ? कुत एतदागाद्' इति। तदुह न मेने गार्ग्यः ॥ १६ ॥

---

* गार्ग्य ने पूर्व चन्द्रमा में जिस पुरुष का वर्णन किया है, उस को ये नाम दिये गए हैं। यहां सोए हुए पुरुष को इन नामों से बुलाने में क्या अभिप्राय है, यह मेरी समझ में नहीं आया। स्वामि शङ्कराचार्य लिखते हैं, कि गार्ग्य ने प्राण को ही देह में कर्त्ता भोक्ता समझा था, और चन्द्र आदि में जिस पुरुष का वर्णन है, वह प्राण है। अब अजातशत्रु का सोए पुरुष के पास जाकर इन नामों से बुलाने में यह अभिप्राय हैं, कि यदि प्राण भोक्ता होता, तो प्राण तो सोने की अवस्था में भी चल रहा है, वह क्यों न अपने नामों को सुन लेता इत्यादि॥ यहां बृहदारण्यक में गार्ग्य ने सब से पहले आदित्य पुरुष का वर्णन किया है, फिर चन्द्र पुरुष का। पर कौषीतकि में सब से पहले चन्द्र पुरुष का वर्णन है। पर अजातशत्रु ने सोए पुरुष को जिन नामों से बुलाया है, वे दोनों उपनिषदों में समान हैं अर्थात् चन्द्र के नाम हैं, इससे प्रतीत होता है, कि बृहदारण्यक के संग्रह में कुछ भेद हुआ है।

अजातशत्रु ने कहा, जब यह पुरुष, जो विज्ञानमय है, इस तरह (बेखबर) सोया हुआ था, तब कहां था? और कहां से वह इस तरह लौटकर आया? गार्ग्य ने यह नहीं समझा॥१६

स होवाचाजातशत्रुः, 'यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद्, य एष विज्ञानमयः पुरुषः, तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते। तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत् पुरुषः स्वपिति नाम। तद्गृहीत एव प्राणो भवति, गृहीता वाग्, गृहीतं चक्षुः, गृहीतं श्रोत्रम्, गृहीतं मनः॥ १७॥

अजातशत्रु ने कहा, 'जहां यह पुरुष, जो यह विज्ञानमय है, इस तरह सोया हुआ था, वहां वह सारे इन्द्रियों के विज्ञान से विज्ञान को लेकर, उस में सोता है जो यह अन्दर हृदय में आकाश है *। उन (इन्द्रियों के भिन्न २ विज्ञानों) को जब ले लेता है; तब वह पुरुष सोता है (स्वपिति) कहा जाता है †। तब प्राण (घ्राण) अन्दर पकड़ा हुआ होता है (=बाहर के गन्ध को नहीं सूंघता) वाणी पकड़ी हुई होती है, नेत्र पकड़ा हुआ होता है, कर्ण पकड़ा हुआ होता है, मन पकड़ा हुआ होता है ॥ १७ ॥

---

* आकाश=ब्रह्म (शङ्कराचार्य्य)॥

† स्वपिति, इस का अर्थ है–सोता है। पर उपनिषद् में स्वप्नावस्था में यह पुरुष का नाम माना गया है, और इस का अर्थ यह लिया है कि 'स्वं अपीति' अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, जैसा कि उपनिषद् में ही कहा है 'स्वमपीतो भवति'॥

स यत्रैतत् स्वप्न्या चरति, ते हास्य लोकाः, तदुतेव महाराजो भवति, उतेव महाब्राह्मणः, उतेवोच्चावचं निगच्छति। स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेत, एवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥ १८ ॥

और जब वह स्वप्न की वृत्ति से विचरता है(स्वप्न देखता है)। तब उस के सचमुच वह लोक होते हैं (स्वप्न की दुनिया होती है)। और वह उस समय एक बड़ा राजा सा होता है, एक बड़ा ब्राह्मण सा होता है, और वह ऊपर जाता सा है और नीचे गिरता सा है। और जैसे कि कोई बड़ा राजा अपनी प्रजाओं को साथ लेकर अपनी इच्छानुसार अपने राज्य में (देश में) घूमे, इसी प्रकार यह (पुरुष) यहां स्वप्न में इन्द्रियों को (इन्द्रियों ने जो अपने २ ज्ञान उस पुरुष को दिये हैं, उन ज्ञानों को) लेकर अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में इधर उधर घूमता है ॥१८॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत, एवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

अब जब कि गहरी नींद में सोया हुआ होता है, और जब कुछ नहीं जानता है, उस समय, जो हिता नामी (हित करने वाली) बहत्तर हज़ार नालियें हैं जो हृदय से सारे शरीर

में पहुंचती हैं, उन (नालियों) के द्वारा चल कर शरीर में सोता है। और जैसा कि कोई कुमार वा महाराज अथवा महाब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा (चोटी) पर पहुंच कर सोवे, * इस प्रकार तब वह सोता है॥ १६॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोका सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्-सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषा मेष सत्यम् ॥२०॥

जैसे मकड़ी तन्तु से ऊपर आती है, वा जैसे अग्नि से छोटी २ चिंगाड़ियां उठती हैं, इसी प्रकार सारे इन्द्रिय, सारे लोक, सारे देवता, सारे प्राणधारी, इस आत्मा से उठते हैं। उस की (आत्मा की) उपनिषद् (सच्चा नाम) है 'सत्य का सत्य' निःसन्देह इन्द्रिय सत्य हैं, और यह (आत्मा) उन (इन्द्रियों) का सत्य है॥ २०॥

दूसरा ब्राह्मण (शिशु ब्राह्मण)

यो ह वै शिशुꣳसाधानꣳसप्रत्याधानꣳसस्थूणꣳसदामं वेद, सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि। अयं वाव शिशु-

---

* छोटा बाल, महाराज और महाब्राह्मण अपनी स्वस्थ अवस्था में बड़े प्रसन्न रहते हैं, इस लिए उनका दृष्टान्त लिखा है। सुषुप्ति में हर एक पुरुष वैसा प्रसन्न होता है, जैसे एक बच्चा वा राजाधिराज, अथवा महाब्राह्मण।

योऽयं मध्यमः प्राणः, तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम ॥ १ ॥

जो छोटे बच्चे को उस के अपने घर, खाने, खूंटे और रस्सी समेत जानता है. वह अपने साथ द्वेष करने वाले सात शत्रुओं * को दूर कर देता है। यह निःसन्देह छोटा बच्चा है, जो यह मध्यम (=शरीर के अन्दर) प्राण है। उस का घर यह (शरीर) है, उस का खाना यह (सिर) है, खूंटा प्राण (बल) है, रस्सी अन्न है † ॥ १ ॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते। तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तः। अथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यः। या कनीनका तया ऽऽदित्यः। यत् कृष्णं तेनाऽग्निः। यच्छुक्लं तेनेन्द्रः। अधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया। नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥२॥

---

* दो कान, दो आंख, दो नासिका और मुख यह जो सिर के सात छेद हैं यही सात विषयों के जानने का द्वार हैं, इन्हीं से विषयों में राग उत्पन्न होता है, और विषयों के राग मनुष्य को अन्तर्मुख होने (आत्मदर्शन) से रोकते हैं, इसलिये ये सातों शत्रु हैं ॥

† यहां प्राण को एक बछड़े के तौर पर वर्णन किया है, जिसके लिये शरीर गोशाला है, और सिर के छिद्र अलग २ खाने हैं, बल खूंटा है और आहार रस्सी है, क्योंकि प्राण आहार से इस देह में बंधा हुआ है।

उस (नेत्र में स्थित प्राण) को ये सात अक्षितियें * प्राप्त होती हैं । सो जो ये नेत्र में लाल रेखाएं हैं, उन से रुद्र इस (प्राण) से मिला हुआ है। और जो नेत्र में पानी है, उस से पर्जन्य (मेघ) अनुगत है। जो काली धीरी है, उस से आदित्य (सूर्य, अनुगत है) जो (आंख में) कृष्ण आना है, उस से अग्नि (अनुगत है) । और जो श्वेत आना है, उस से इन्द्र (अनुगत है) । निचली पलक से इस के पृथिवी अनुगत है। और ऊपर की पलक से द्यौ । जो इस (रहस्य) को जानता है, उस के (घर) अन्न क्षीण नहीं होता है ॥२॥

तदेष श्लोको भवति । "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न-स्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना" इति । 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्न' इति । इदं तच्छिर एषह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः । 'तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्' इति । प्राणा वै यशो विश्व-रूपं प्राणानेतदाह । 'तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे' इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह । 'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाने' ति वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥ ३ ॥

---

* न नाश होने वाली शक्तियें, देखो पूर्व १ । ५ । १-२ यहां रुद्रादि देवताओं को अक्षिति कहा है, क्योंकि प्राण को (जिस को यहां शिशु कहा है) बार २ आहार देने से ये क्षीण नहीं होते ॥

इस पर यह श्लोक है-* "एक चमसा † है जिस का मुंह नीचे को है और मूल (तला) ऊपर को है, उस में हर एक प्रकार का यश रक्खा हुआ है। उस के किनारे पर सात ऋषि बैठते हैं, और आठवीं वाणी है जो कि वह वेद के द्वारा यथार्थ अनुभव करती है ‡ "। 'वह चमस जिस का मुंह नीचे को और मूल ऊपर को है' वह यह सिर है, क्योंकि इस का मुंह (जो वस्तुतः मुंह है) नीचे को है, और मूल (सिर का पिंजर) ऊपर को है। 'उस में हर एक प्रकार का यश रक्खा हुआ है' प्राण ही सब प्रकार का यश है, इस लिए इस वचन से प्राण का ही वर्णन किया है। 'उस के किनारे पर सात ऋषि रहते हैं' इन्द्रिय ही निःसन्देह ऋषि हैं, इस लिए इस वचन से इन्द्रियों का वर्णन किया है। 'और आठवीं वाणी है, जो वेद के द्वारा यथार्थ अनुभव करती है' क्योंकि वाणी (इन सात से अलग) आठवीं है, जो वेद के द्वारा (ब्रह्म का) यथार्थ अनुभव करती है ॥ ३ ॥

---

* यह मन्त्र थोड़े से पाठ भेद के साथ अथर्व १०।८।९ में है॥

† चमस=सोम का बर्तन, जिस में सोमरस डालते हैं, लकड़ी का एक कटोरा सा होता है। ‡ गिनती में वाणी सातवीं है, जैसा अगले खण्ड में सात ऋषि गिनाए हैं। पर वाणी के दो धर्म हैं, चखना और बोलना। चखने के धर्म को लेकर वाणी सातवीं है, और बोलने के धर्म को लेकर आठवीं है, इस लिए कहा है 'वाणी उन में आठवीं है, जब कि वह वेद के द्वारा ब्रह्म का यथार्थ अनुभव करती है, अथवा जब वेद का उच्चारण करती है' ॥

सं—उन सात ऋषियों का नाम द्वारा वर्णन करते हैं-

इमावेव गोतमभरद्वाजौ, अयमेवगोतमोऽयंभरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी, अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठ कश्यपौ, अयमेव विशिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिः, वाचाह्यन्न मद्यते, अत्तिर्हवै नामैतद्यदत्रिरिति। सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

यही दोनों * (दोनों कान) गोतम और भरद्वाज हैं, यही (दायां कान) गोतम है, और यह (बायां कान) भरद्वाज है । यही दोनों (दोनों नेत्र) विश्वामित्र और जमदग्नि

---

* आचार्य ने अपने शिष्य को पास बिठला कर अंगुली से इशारा करके यह उपदेश किया है, उपनिषद् में हूबहू वैसा ही लिख दिया है । यह इस बात का पूरा उदाहरण है, कि उपनिषद् के उपदेश गुरु के पास जाकर सीखने के लिए थे, न कि पुस्तक पढ़ कर । यहां आचार्य दोनों कानों की ओर अंगुली करके बतलाता है, कि यही दोनों गोतम और भरद्वाज हैं । और फिर दायें बायें अंगुली करके अलग २ बतलाता है, कि यह गोतम और यह भरद्वाज है. इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये । यहां जो वाणी को अन्त में कहा है, इस से प्रतीत होता है, कि पहले कानों से ही आरम्भ करके वाणी तक पहुंचे हैं । पर " यह गोतम और यह भरद्वाज है " इस में सन्देह रहता है, कि पहले दाईं ओर अंगुली की है, वा बाईं ओर । इसीलिये स्वामि शंकराचार्य यहाँ लिखते हैं, कि गोतम

हैं, यही (दायां नेत्र) विश्वामित्र है और यह (बायां नेत्र) जमदग्नि है। यही दोनों (दोनों घ्राण=नासिकाएं) वसिष्ठ और कश्यप हैं, यही (दायां घ्राण) वसिष्ठ है और यह (बायां) कश्यप है। वाणी अत्रि है, क्योंकि वाणी से अन्न खाया जाता है और अत्रि यह अत्ति=खाने वाले, के अर्थ में है। जो इस (रहस्य) को जानता है, वह हर एक वस्तु का खाने वाला होता है और हर एक वस्तु उस का अन्न होती है ॥४॥

तीसरा ब्राह्मण (मूर्तामूर्त ब्राह्मण)

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

दो ही ब्रह्म के रूप हैं* मूर्त (मूर्ति वाला) (Material) और अमूर्त (जिस की कोई मूर्ति नहीं) (Immaterial), मरने वाला और न मरने वाला, ठहरा हुआ और चलने वाला†

दायां और भरद्वाज बायां है या गोतम बायां है और भरद्वाज दायां है। पर स्वभावतः पहले अंगुली दांई ओर ही जानी चाहिये इसलिये हमने यही एक अर्थ लिया है। स्वामि शंकराचार्य ने भी पहला अर्थ यही लिया है॥

* पांच भूतों के दो भेद हैं, मूर्त और अमूर्त। ये दोनों ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हैं, इसलिये ये दोनों ब्रह्म के रूप कहलाते हैं, परमात्मा का शुद्ध स्वरूप इन दोनों से परे 'नेति नेति' करके वर्णन किया है।

† परिच्छिन्न (हद्द वाला) और अपरिच्छिन्न (शंकराचार्य) ॥

सत् (व्यक्त) और त्यत् (वह=अप्रत्यक्ष अर्थात् सत्+त्य =सत्य) * ॥ १ ॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च, एतन्मर्त्यम् , एतत् स्थितम् . एतत् सत् । तस्यैतस्य मूर्तस्य एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य सत एष रस', य एष तपति । सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

वायु और आकाश सब कुछ मूर्त है, यह मरने वाला है, यह स्थित है, यह सत् (व्यक्त है, जिस की एक बन्धी हुई शकल है) । यह जो मूर्त है, मर्त्य है, स्थित है और सत् है, इस का यह रस (निचोड़, सार) है, जो यह तपता है (अर्थात् सूर्य) । क्योंकि यह सत् का रस है ॥ २ ॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च, एतदमृतम् , एतद् यद् , एतत् त्यत् । तस्यैतस्यामूर्तस्य, एतस्यामृतस्य, एतस्य यतः, एतस्य त्यस्यैष रसः, य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, त्यस्य ह्येष रसः, इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

अब, जो वायु और आकाश है, यह अमूर्त है, यह अमृत है, यह चलने वाला है, (अर्थात् कोई नियत आकार नहीं रखता), यह वह है (अव्यक्त है, छिपा हुआ है) इस का यह

---

* जो मूर्त है वह मरने वाला है, ठहरा हुआ है और प्रत्यक्ष है, और जो अमूर्त है,वह मरने वाला नहीं, चलने वाला है और अप्रत्यक्ष है ॥

रस है, जो इस मण्डल (सूर्य मण्डल) में पुरुष (समष्टि सूक्ष्म शरीर) है । क्योंकि यह उस (छिपे हुए का) रस है, यह अधिदैवत (देवताओं के सम्बन्ध में) है ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम्—इदमेवमूर्तं, यदन्यत् प्राणाच्च, यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः, एतन्मर्त्यम्, एतत् स्थितम्, एतत् सत्। तस्यैतस्य मूर्तस्य, एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य. एतस्य सत एष रसः, यच्चक्षुः, सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

अब अध्यात्म (वर्णन) है । प्राण, और शरीर के अन्दर जो आकाश है, इन के सिवाय जो कुछ है यह मूर्त है, यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है । यह जो मूर्त है, स्थित है, सत् है इस का यह रस (निचोड़, सार) है, जो नेत्र है, क्योंकि सत् का यह रस है ॥ ४ ॥

अथामूर्तम्-प्राणश्च, यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः, एतदमृतम्, एतद् यद्. एतत् त्यत्, तस्यैतस्यामूर्तस्य, एतस्यामृतस्य, एतस्य यतः एतस्य त्यस्यैष रसः, योऽयंदाक्षिणेऽक्षन् पुरुषः. त्यस्य ह्येष रसः ॥ ५ ॥

अब; प्राण, और शरीर के अन्दर जो आकाश है, यह अमूर्त है. यह अमृत है यह चलने वाला है, यह वह (अव्यक्त, छिपा हुआ) है । यह जो अमूर्त है, अमृत है, चलने वाला है, वह (अव्यक्त, छिपा हुआ) है । इस का यह रस है, (निचोड़, सार) है. जो यह दाईं आंख * में पुरुष (सूक्ष्म शरीर) है,

* सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) की स्थिति विशेष करके

क्योंकि त्यद् (उस, छिपे हुए) का यह रस है ॥ ५ ॥

तस्यहैतस्य पुरुषस्य रूपम्–यथा महारजनं वासः, यथा पाण्ड्वाविकं, यथेन्द्रगोपः, यथाऽग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं यथा सकृद् विद्युतं, सकृद् विद्युत्तेव हवा अस्य श्रीर्भवति, य एवं वेद । अथात आदेशो नेतिनेति । न ह्येतस्मादिति, नेत्यन्यत् परमस्ति । अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

उस पुरुष (सूक्ष्म शरीर) का रूप (यह) है–केसर के रंग से रंगे हुए वस्त्र की नाईं (केसरी), भूसली ऊन की नाईं (भूसला), चीच बहूटी की नाईं (लाल), श्वेत कमल की नाईं (श्वेत), एक ही बार बिजली की चमक की नाईं (चमकता हुआ) । एक ही बार सब जगह बिजली के चमकने की तरह उस की शोभा चमकती है, जो इस (रहस्य) को जानता है * । अब आगे (ब्रह्म का) उपदेश है, नेति

दाईं आंख में वर्णन की जाती है । स्यात् इस का कारण यह हो, कि सूक्ष्म शरीर पर दाईं आंख के द्वारा ही अधिक चित्र खिचते हैं ।

* मनुष्य पुण्यमय, पापमय वा मिश्रित जिस प्रकार के कर्म करता है, वैसा ही रंग उसके सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता है, मनुष्य जब मरता है,तो यह उसके कर्मों का रंगा हुआ कपड़ा (सूक्ष्म शरीर) उसके साथ जाता है ॥ यहां जो रंग उसके दिखलाए हैं, ये प्रकार दिखलाने के लिये हैं, कि मनुष्य के

नेति * (=नहीं है इस प्रकार, नहीं है इस प्रकार) क्योंकि (ब्रह्म) इस प्रकार नहीं है, इस से बढ़ कर दूसरा (ब्रह्म के बतलाने का मार्ग) नहीं है। † अब नाम है 'सचाई की सचाई' प्राण सचाई है (और ब्रह्म) उन की सचाई है ॥ ६ ॥

चौथा ब्राह्मण (मैत्रेयी ब्राह्मण) ‡

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः 'उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि, हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणि' इति ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य (जब संन्यास आश्रम में जाने लगा, तो उस) ने कहा, मैत्रेयी! मैं अब इस स्थान (गृहाश्रम) से ऊपर जाना चाहता हूं। मैं चाहता हूं, तेरा अब इस कात्यायनी (मेरी दूसरी स्त्री) के साथ विभाग कर दूं (अर्थात् धन तुम दोनों को अलग २ बांट कर देदूं) ॥ १ ॥

भले बुरे कर्मों से इस २ प्रकार वह रंगा जाता है। किन्तु यह इतने ही प्रकार के रंग नहीं हैं, क्योंकि असंख्यात वासनाएं उत्पन्न होती रहती हैं। जिनका सूक्ष्म देह पर रंग चढता है॥

* देखो ३। ६।२६; ४।२। ४; । ४।४।२२; ४। ५।१५ ॥

† यह नाम की उपनिषद् दो बार पीछे आई है ॥

‡ इस ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने गृहाश्रम से निकल कर संन्यास में जाते समय मैत्रेयी को जो उपदेश दिया है, उस का वर्णन है। यह सम्वाद बृहदारण्यक ४। ५ में भी कुछ थोड़े से भेद के साथ दिया है, यह भेद उस जगह के देखने से मालूम हो जाएगा।

साहोवाच मैत्रेयी 'यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, कथं तेनाऽमृतास्याम्' इति। नेतिहोवाच याज्ञवल्क्यः, 'यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्। अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन' इति ॥२॥

मैत्रेयी ने कहा-' भगवन्! यदि यह सारी पृथिवी धन से भरी हुई मेरी (मलकीयत) हो, तो क्या मैं इस से अमर हो जाउंगी ' याज्ञवल्क्य ने कहा ' नहीं, (किन्तु) जैसे उन लोगों का जीवन बीतता है, जिन के पास हर एक प्रकार के साधन उपसाधन हैं, वैसे ही तेरा जीवन बीतेगा। पर अमर होने की तो धन से कोई आशा नहीं है ' ॥ ३ ॥

साहोवाच मैत्रेयी 'येनाहं नामृता स्यां, किमहं तेन कुर्यां ? यदेव भगवान् वेद, तदेव मे ब्रूहि' इति ॥३॥

मैत्रेयी ने कहा- जिससे मैं अमर नहीं हो सकूंगी, उस को लेकर मैं क्या करूंगी ? सो जो (बात) भगवान् (अमर होने की बाबत) जानते हैं, वही मुझे बतलाइये ' ॥३॥

सहोवाच याज्ञवल्क्यः, 'प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषसे। एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व ' ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा-' तू हमारी प्यारी है और प्रिय वचन बोलती है। आ, बैठ मैं तुझे यह खोल कर बतलाता हूं, पर मेरे बतलाने पर पूरा २ ध्यान दे '।

सहोवाच, 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रियाभवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद्ँसर्वं विदितम् ॥५॥

तब उस ने कहा-' हे (मैत्रेयी !) पति की कामना के लिए पति प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा * की कामना के

* आनन्द तीर्थ ने यहां आत्मा से अभिप्राय परमात्मा

लिए पति प्यारा होता है । हे (मैत्रेयी) निःसन्देह पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्यारी नहीं होती, अपितु आत्मा की कामना के लिए पत्नी प्यारी होती है। हे (मैत्रेयी) पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना से लिए पुत्र प्यारे होते हैं । अरे (मैत्रेयी) धन की कामना के लिए धन प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा की कामना के लिए धन प्यारा होता है। अरे (मैत्रेयी) निःसन्देह ब्रह्म (=ब्राह्मणत्व) की कामना के लिए ब्रह्म प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा की कामना के लिए ब्रह्म प्रिय होता है। अरे (मैत्रेयी) निःसन्देह क्षत्र (=क्षत्रियत्व) की कामना के लिए क्षत्र प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा की कामना के लिए क्षत्र प्रिय होता है। अरे (मैत्रेयी) लोकों की कामना के लिए लोक प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना के लिए लोक प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयी) निःसन्देह देवताओं की कामना के लिए देवता प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना के लिए देवता प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयी) निःसन्देह प्राणधारियों की कामना के लिए प्राणधारी प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा की कामना के लिए प्राणधारी प्यारे होते हैं। अरे (मैत्रेयी) निःसन्देह कोई भी वस्तु उस की कामना के लिए प्यारी नहीं होती, अपितु आत्मा की कामना के लिए हर एक वस्तु प्यारी होती है । हे मैत्रेयी ! निःसन्देह आत्मा ही साक्षात् करने

लिया है और अर्थ किया है कि पति की इच्छा से पति प्यारा नहीं किन्तु परमात्मा की इच्छा से पति प्यारा होता है, अर्थात् परमात्मा जिस से जिस को सुख दिलाना चाहते हैं, वह वस्तु उस को प्यारी लगती है।

योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदि-ध्यासन करने योग्य है । अरे (मैत्रेयी) आत्मा के दर्शन से श्रवण से मनन से और जानने से यह सब कुछ जाना जाता है ॥ ५ ॥

भाष्य—मनुष्य को अपना आत्मा ही सब से अधिक प्यारा है । और सब कुछ आत्मा के लिए प्यारा होता है । जो कुछ आत्मा के अनुकूल है, वह प्रिय है, और जो प्रतिकूल है, वह अप्रिय है, स्वतः न कुछ प्रिय है, न अप्रिय है । गर्मी में ठण्डी वायु सुखाती है वही सरदी में दुखाती है । सर्दी में जो धूप सुखाती है, वही गर्मी में दुखाती है । यही बात सब अना-त्मवस्तुओं के लिए है । पति पुत्रादि आत्मा के अनुकूल हैं इस लिए प्यारे हैं । अर्थात् पति पुत्रादि हेतु हैं आत्मा की प्रीति के, इस लिए प्यारे हैं । आत्मा किसी अवस्था में भी अप्रिय नहीं होता है, जो सर्वदा प्रिय है और सब कुछ जिस के लिए प्यारा बन जाता है, वही आत्मा देखने योग्य है । उस के देखने का उपाय यह है, कि पहले श्रुति से उस का श्रवण करो फिर युक्ति से उस का मनन करो और फिर चित्त को उसी में एकाग्र करो । उस को जान कर कोई बात जानने की शेष नहीं रहेगी ॥

ब्रह्म तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद । क्षत्रं तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद । लोकास्तं परादुर्यो-ऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद । देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद । भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद ।

सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद । इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रम्, इमे लोकाः, इमे देवाः,इमानि भूतानि,इदꣳसर्वं यद-यमात्मा ॥ ६ ॥

ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) उस को परे हटा देता है (कल्याण के मार्ग से गिरा देता है) जो आत्मा के सिवाय ब्रह्म (-ब्राह्म-णत्व) को जानता है । क्षत्र (क्षत्रियत्व) उस को परे हटा देता है, जो आत्मा के सिवाय क्षत्र को जानता है, लोक उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा के सिवाय लोकों को जानता है। देवता उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा के सिवाय देवताओं को जानता है, भूत (प्राणधारी) उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा के सिवाय भूतों को जानता है, सब कोई उस को परे हटा देता है, जो आत्मा के सिवाय सब कुछ जानता है । यह ब्रह्म, यह क्षत्र, ये लोक, ये देवता, ये भूत, यह सब यही हैं, जो कि यह आत्मा है * ॥ ६ ॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

यह इस तरह है, कि जैसे दुन्दुभि पर जब चोट दी जाती है, तो उस के बाहिर के शब्दों को (अलग २) ग्रहण नहीं कर सकते, पर दुन्दुभि के ग्रहण से वा दुन्दुभि को चोट

* ब्राह्मणत्वादि सभी आत्मा के लिए हैं, इस लिए उसी को जानो, उस के ज्ञान में सारे ज्ञान आ जाते हैं ॥

देने वाले के ग्रहण से शब्द ग्रहण किया जाता है ॥ ७ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

जैसा कि शंख जब पूरा जाता है, तो उस के बाह्य शब्दों को नहीं ग्रहण कर सकते, पर शंख के ग्रहण से वा शंख को पूरने वाले के ग्रहण से शब्द ग्रहण किया जाता है ॥८॥

स यथा बीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, बीणायै तु ग्रहणेन बीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

जैसा कि बीणा जब बजाई जाती है, तो उस के बाह्य शब्दों को (अलग २) ग्रहण नहीं कर सकते। परन्तु बीणा के ग्रहण करने से वा बीणा के बजाने वाले के ग्रहण से शब्द ग्रहण किया जाता है * ॥ ९ ॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्, यदृग्वेदो-यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि ॥ १० ॥

---

* इन सब का अभिप्राय यह है, कि एक मुख्य वस्तु को पकड़ लेने से और किसी के पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती ॥

जो आग गीली लकड़ियों से जलाई गई है, जैसा कि उस से अलग धूम (के बादल) बाहर निकलते हैं। इसी प्रकार हे (मैत्रेयी) इस बड़ी सत्ता से यह बाहर की ओर सांस लिया गया है, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्याएं, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं। इसी के ही यह सांस लिए हुए हैं * ॥१०॥

स यथा सर्वासामपाᳬसमुद्र एकायन मेवᳬसर्वेषाᳬस्पर्शानां त्वगेकायनम्, एवᳬसर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्, एवᳬसर्वेषाᳬरसानां जिह्वैकायनम्, एवᳬसर्वेषाᳬरूपाणां चक्षुरेकायनम्, एवᳬसर्वेषाᳬशब्दानांᳬश्रोत्र मेकायनम्, एवᳬसर्वेषांᳬसंकल्पानां मन एकायनम्, एवं सर्वासां विद्यानाᳬ

---

* यहां बड़ी सत्ता से सारे व्याख्याकारों ने परमात्मा से अभिप्राय लिया है, अर्थात् चारों वेद उस से निःश्वास की नाईं स्वभावतः प्रकट हुए हैं, इस आशय से इतिहास पुराण आदि अलग २ ग्रन्थों से अभिप्राय नहीं हो सकता, किन्तु वेद के ही अवान्तर भेद समझने चाहियें। वेद को कह कर भी उस के अवान्तर भेद विशेष अभिप्राय से अलग कह दिये जाते हैं, जैसे यजु० १८। २२ में साम के साथ उस के अवान्तर भेद बृहत् और रथन्तर अलग कहे हैं। तथापि इन शब्दों से क्या २ विषय अभिप्रेत है, ऐसा निर्धारण करने के लिए प्रमाणों का अन्वेषण करना चाहिये, स्वामि शंकराचार्य ने ये सारे ब्राह्मण के अवान्तर भेद कहे हैं॥

हृदयमेकायनम्, एवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनम्, एवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्, एवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनम्, एवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनम्, एवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

जैसे सारे जलों का समुद्र एक गति (केन्द्र) है, इसी प्रकार सारे स्पर्शों की त्वचा एक गति है, इसी प्रकार सारे गन्धों का नासिकाएं एक गति हैं। इसी प्रकार सारे रसों की जिह्वा एक गति है, इसी प्रकार सारे रूपों की आंख एक गति है, इसी प्रकार सारे शब्दों की कान एक गति हैं, इसी प्रकार सारे संकल्पों की मन एक गति है, इसी प्रकार सारे ज्ञानों का हृदय एक गति है, इसी प्रकार सारे कर्मों की हाथ एक गति है, इसी प्रकार सारे आनन्दों की उपस्थ एक गति है, इसी प्रकार सारे त्यागों की पायु एक गति है, इसी प्रकार सारे मार्गों की पाओं एक गति हैं, इसी प्रकार सारे वेदों की बाणी एक गति है ॥ ११ ॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदक मेवानुविलीयेत, न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतोयतस्त्वाददीत लवणमेव। एवं वा अर इदं महद्भूत मनन्तमपारं विज्ञानघन एव, एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमि' इति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

जैसे लून (नमक) का खिट्टा (ढेला) पानी में डाला हुआ पानी में ही घुल जाता है, और इस को निखेर कर नहीं

ग्रहण कर सकते, परन्तु जहां २ से (पानी को) लिया जाए, लवण (रस) ही होगा * इसी प्रकार हे (मैत्रेयी) यह बड़ी सत्ता जिस का अन्त नहीं, जिस का पार नहीं, यह विज्ञान-घन ही है (विज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं), इन भूतों से उठ कर इन्हीं में छिप जाता है, मर कर कोई संज्ञा (नाम) नहीं है, यह तुझे बतलाता हूं, हे मैत्रेयी " ! इस प्रकार याज्ञ-वल्क्य ने कहा ॥ १२ ॥

सा होवाच मैत्रेयी 'अत्रैव मा भगवानमूमुहत्, न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति । सहोवाच 'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अरे इदं विज्ञानाय ' ॥ १३ ॥

मैत्रेयी ने कहा, 'यहां ही मुझे भगवान् (आप) ने घब-राहट में डाल दिया है (यह कह कर) कि मर कर कोई संज्ञा (नाम) नहीं है"। उसने कहा 'हे (मैत्रेयी) मैं घवराट वाली बात नहीं कहता, यह पर्याप्त है (हे मैत्रेयी) जानने के लिए ॥१३ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरमभि-वदति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति, यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं जिघ्रेत्, तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्, तत् केन कमभिवदेत्, तत् केन कं मन्वीत, तत् केन कं विजानीयात् ? येनेदं सर्वं

* देखो छान्दोग्य ६ । १३ ॥

विजानाति, तं केन विजानीयात् ? विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ॥ १४ ॥

क्योंकि जब द्वैत सा होता है, तब दूसरा दूसरे को सूंघता है, दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा दूसरे को सुनता है, दूसरा दूसरे को कहता है, दूसरा दूसरे को ख्याल करता है, दूसरा दूसरे को जानता है, पर जब इस का सब कुछ आत्मा ही हो गया, तब किस से किस को सूंघे, किस से किस को देखे, किस से किस को सुने, किस से किस को कहे, किस से किस का ख्याल करे, किस से किस को जाने ? जिस से इस सब को जानता है, उस को किस से जाने ? हे (मैत्रेयी) जानने वाले को किस से जाने ? * ॥ १४ ॥

पांचवां ब्राह्मण (मधु ब्राह्मण †)

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि

---

* बृह० उप० ४ । ५ में यह विषय अधिक विस्तार के साथ आजाएगा, इस लिए यहां कोई टिप्पणी नहीं दी ॥

* इस ब्राह्मण में यह वर्णन है, कि यह सृष्टि परस्पर एक दूसरे का उपकार कर रही है, पृथिवी जीते जागते जन्तुओं को जन्म देती है और उनको आश्रय देती है, इसलिये उनका सहारा है। और यह उनके लिये बनाई गई है, इस मति से वे जन्तु इसके जन्म निमित्त भी हैं। यह उन का कार्य भी है और कारण भी है। जिस तरह शहद की मक्खियें शहद को बनाती हैं और शहद में जन्मती पलती हैं, जिस तरह पर ये एक दूसरे के लिए हैं, इसी तरह सारा जगत् एक दूसरे के लिए है, इस

भूतानि मधु । यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो, यश्चायमध्यात्मꣳशारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ १ ॥

यह पृथिवी सब जीवों का शहद है, और सारे जीव इस पृथिवी की शहद हैं। जो इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में शरीर के अन्दर तेजोमय, अमृतमय पुरुष है। यही निःसन्देह वह है, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह संपूर्ण है।

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मधु, आसामपां सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳरैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ २ ॥

यह जल सब जीवों का शहद है, सारे जीव इन जलों का शहद हैं । जो यह जलों में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में रेतस् (वीर्य) में पुरुष है, यही है वह जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ २ ॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चाय-

से प्रतीत होता है, कि इन सब के अन्दर इन का अधिष्ठाता एक अमृतमय पुरुष है । यह विद्या मधुविद्या कहलाती है, जो दध्यङ् ने अश्वियों को उपदेश की है ।

मध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद्ँ्सर्वम् ॥ ३ ॥

यह अग्नि सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस अग्नि की शहद हैं । जो यह इस अग्नि में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में वाङ्मय (वाणी का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं प्राण स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद्ँ्सर्वम् ॥ ४ ॥

यह वायु सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस वायु की शहद हैं । और जो यह इस वायु में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में प्राण (प्राण का अधिष्ठाता) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह संपूर्ण है ॥ ४ ॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद्ँ्सर्वम् ॥ ५ ॥

यह आदित्य (सूर्य) सारे जीवों की शहद है, सारे जीव

इस आदित्य की शहद हैं । और जो यह आदित्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो अध्यात्म में चाक्षुष (=नेत्र का अधिष्ठाता) पुरुष है । यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह संपूर्ण है ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मधु, आसां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मꣳश्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयःपुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥६॥

यह दिशाएं सब जीवों की शहद हैं, सारे जीव इन दिशाओं की शहद हैं । और जो यह इन दिशाओं में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में श्रोत्र का अधिष्ठाता सुनने की शक्ति देने वाला तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह संपूर्ण है ॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ ७ ॥

यह चन्द्र सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस चन्द्र की शहद हैं । और जो यह इस चन्द्र में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में मन का अधिष्ठाता तेजोमय

अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ ८ ॥

यह बिजली सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस बिजली की शहद हैं। और जो यह इस बिजली में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह इस अध्यात्म में तेज का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ८ ॥

अयꣳस्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन् स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳशाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ ९ ॥

यह गर्जने वाला (बादल) सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस गर्जने वाले की शहद हैं। और जो यह इस गर्जने वाले में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में शब्द का अधिष्ठाता और स्वर का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳहृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृत मिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ १० ॥

यह आकाश सारे जीवों की शहद है, सारे जीव इस आकाश की शहद हैं। और जो यह इस आकाश में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह हृदय में आकाश का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही है वह, जो यह आत्मा है यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥१०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु, अस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन् धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृत मिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ ११ ॥

यह धर्म सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस धर्म की शहद हैं। और जो यह इस धर्म में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में धर्म का अधिष्ठाता पुरुष है * यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ ११ ॥

---

* पूर्व कह आए हैं कि पृथिवी आदि सारे जीवों का उपकार करते हैं और सारे जीव इन का उपकार करते हैं। यह इनका परस्पर का उपकार धर्म के अधीन है। बाह्य जगत्

इदꣳसत्यꣳसर्वेषां भूतानां मधु, अस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन् सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मꣳसात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ १२ ॥

यह सत्य * सारे जीवों की शहद है, सारे जीव इस सत्य की शहद हैं । और जो इस सत्य में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में सत्य का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है । यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ १२ ॥

इदं मानुषꣳसर्वेषां भूतानां मधु, अस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम् ॥ १३ ॥

यह मनुष्यपन सारे जीवों की शहद है, सारे जीव इस

धर्ममात्र का फल है अर्थात् सब के सांझे धर्म का फल है और भिन्न २ शरीर अपने २ निज धर्म का फल हैं । इस लिए धर्म सामान्यरूप से सारे विश्व की रचना में निमित्त है,और विशेष रूप से अलग २ शरीरों की रचना में निमित्त है, दोनों जगह पर धर्म का अधिष्ठाता वही सर्वान्तरात्मा है ।

* सत्य=सचाई, वे नियम जो इस बाह्य जगत् में काम कर रहे हैं और शरीर में काम कर रहे हैं ।

मनुष्यपन की शहद हैं। यह जो इस मनुष्यपन (विराट् देह) में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म में मनुष्य जाति का अधिष्ठाता तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह संपूर्ण है ॥१३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः, यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः। अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद॰ सर्वम् ॥ १४ ॥

यह आत्मा * सब जीवों की शहद है, सारे जीव इस आत्मा की शहद हैं। और जो यह इस आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है †। यही है वह, जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण है ॥ १४ ॥

---

* जीवात्मा, हर एक प्राणधारी इसी से भोग भोगता है, इसी लिए सब जीवों की शहद है; आत्मा=शरीर इन्द्रियों का समुदाय (शङ्कराचार्य)।

† जैसे पहले बाह्य जगत् में पृथिवी आदि का और अध्यात्म जगत् में शरीर आदि का अधिष्ठाता बतलाया है, उस प्रकार यहां बाह्य जगत् का कोई पदार्थ नहीं कहा, किन्तु सब के अन्त में आत्मा का अन्तर्यामी उस को वर्णन किया है। इस लिए यहां आत्मा में उसे तेजोमय अमृतमय पुरुष बतलाकर फिर उस का स्वरूप ही वर्णन कर दिया है कि जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है इत्यादि।

संगति--इस प्रकार परमात्मा को बाह्य और अध्यात्म जगत् का अधिष्ठाता बतला कर अन्त में आत्मा का भी आत्मा ठहराया है, अब उसे सारे जगत् को वश में रखने वाला और सब का आधार बतला कर मधुविद्या को समाप्त करते हैं—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानाꣳराजा। तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः ॥१५॥

सो यह आत्मा सब जीवों का अधिपति है (शासन करने वाला है) सब जीवों का राजा है । सो जैसे रथ की नाभि में और रथ की नेमि (धारा) में सब अरे प्रोए हुए होते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में सारे जीव सारे देवता सारे लोक सारे प्राण और सारे ये आत्मा प्रोए हुए हैं ॥१५॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दꣳसमुग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्नवृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी मुवाचेति ॥ १६ ॥

निःसन्देह यह शहद (मधुविद्या) दध्यङ् आथर्वण (अथर्वा के पुत्र) ने दोनों अश्वियों को बतलाई थी। सो इस बात को देखकर ऋषि (=मन्त्र-शंकराचार्य) ने कहा है (ऋग्० १ । ११६ । १२) हे शूरबीरो (अश्वियो) जैसा कि बादल की

गर्जना वर्षा को प्रकट करती है, इस प्रकार मैं तुम्हारे उस उग्र (तेजस्वी) कर्म को अपने लाभ के लिए प्रकट करता हूं, कि जो अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने घोड़े के सिर से तुम दोनों को मधु (मधुविद्या) बतलाई * ॥ १६ ॥

---

* इस और अगले मन्त्र का अभिप्राय हम स्वतन्त्रता से कुछ नहीं समझ सके। स्वामि शंकराचार्य ने यह लिखा है, कि इन्द्र ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् को प्रवर्ग्यविद्या और मधु-विद्या सिखलाई और यह कहा कि यदि तुम किसी दूसरे को सिखलाओगे, तो तुम्हारा सिर काट लिया जाएगा, दध्यङ् ने पहले अश्वियों से कहा था, कि मैं यह विद्या सीख कर तुम्हें सिखलाऊंगा। सो अश्वियों ने अब दध्यङ् को कहा, कि तुम हमें विद्या सिखाओ। उस ने कहा कि मैं इन्द्र से डरता हूं, कि वह मेरा सिर न काट ले। तब उन्होंने कहा हम तुम्हें बचाएंगे। और उन्होंने यह किया कि उस का सिर काट कर दूसरी जगह रख दिया और उस पर घोड़े का सिर लगा दिया, तब उस ने उन को प्रवर्ग्य और मधुविद्या बतलाई और जब वह बतला चुका, तो इन्द्र ने दध्यङ् का सिर (जो घोड़े का था) काट लिया। तब अश्वियों ने इस का असली सिर उस पर रख दिया। सायनाचार्य ने भी यही आशय प्रकट किया है ॥

स्वामि दयानन्द सरस्वतीजी ने इन मन्त्रों का यह अर्थ लिखा है-तद्वांनरा...हे अच्छी नीति वालो मैं जो विद्वानों और धर्मात्माओं की संगति रखने वाला और भद्र पिता की सन्तान हूं तुम दोनों से सुख सेवन के लिए उत्तम कर्म को

इदं वैतन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेत-दृषिः पश्यन्नवोचत् । आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳशिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचद् ऋतायन् त्वाष्ट्रं यद्दास्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ १७ ॥

निःसन्देह यह शहद (मधुविद्या) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अश्वियों को बतलाई, सो इस बात को देख कर ऋषि ने कहा है—

हे अश्वियो तुम दोनों ने अथर्वा के पुत्र दध्यङ् के लिए घोड़े का सिर प्रेरा । और हे अद्भुत कर्म करने वालो उस ने

प्रकट करता हूं, जैसे बिजली वर्षा को प्रकट करती है । जो विद्वान् तुम दोनों के लिए और मेरे लिए जल्दी पहुंचाने वाले द्रव्य के प्रधान कर्म से मीठे शास्त्र के बोध का उपदेश करे उसे तुम दोनों जगत् में प्रकट करो ॥ आथर्वणायाश्विना.. हे दुःखों के दूर करने वाले और सत्कर्मों में प्रेरने वाले सभा सेनापतियो तुम दोनों जिस कटे हुए सन्देहों वाले के पुत्र और विद्वानों और धर्मात्माओं की पूजा करने वाले के लिए घोड़े के सिर को प्राप्त कराओ, वह तुम दोनों के लिए मधुर विज्ञान का उपदेश करे जो विज्ञान भारी विद्वान् से उपदेश किया गया है, और सब प्रकार की विद्याओं से सम्बन्ध रखता है । भाव यह कि सभा सेनापति आदि राज पुरुष विद्वानों में श्रद्धा करें और सत्कर्मों में प्रेरें और वे तुम्हारे लिए सचाई का उपदेश करके प्रमाद और अधर्म से रोकें ।

सचाई चाहते हुए (प्रण को पूरा करना चाहते हुए) ने तुम दोनों को शहद (मधुविद्या) बतलाई, जो त्वष्टा सम्बन्धि (अर्थात् प्रवर्ग्यविद्या) और रहस्य (ब्रह्मज्ञान की उपनिषद्) है ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्या मुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनाऽनावृतं नैनेन किञ्चनाऽसंवृतम् ॥ १८ ॥

निःसन्देह यह शहद (मधुविद्या) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अश्वियों को बतलाई, सो इस बात को देख कर ऋषि ने कहा है—उस (परमात्मा) ने दो पाओं वाले शरीर बनाए और चार पाओं वाले शरीर बनाए और वह पुरुष पहले पक्षी* बन कर इन शरीरों में प्रविष्ट हुआ ॥ निःसन्देह वह पुरुष इन सब पुरों (शरीरों) में पुरिशय है (अर्थात् सब शरीरों में रहता है इसी लिए पुरुष है)। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इस से ढपी हुई न हो और कोई वस्तु ऐसी नहीं जो इस से भरपूर न हो ॥ १८ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः

* देखो तै० उप० २य वल्ली ॥

शता दशेति । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तर मबाह्यमय-मात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९ ॥

निःसन्देह यह शहद (मधुविद्या) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ने अश्वियों को बतलाई, सो इस बात को देख कर ऋषि ने कहा है, (ऋग्० ५ । ४७ । १८) हर एक रूप के वह प्रतिरूप हो गया है, वह इस का रूप (हमारे) देखने के लिए है। इन्द्र भिन्न २ रचना से अनेक रूपों वाला प्रतीत होता है, दस सौ इस के घोड़े जुड़े हुए हैं।

यह ही (आत्मा) घोड़े है, यह ही (आत्मा) दस और हजारों है, बहुत है और अनन्त है *। सो यह ब्रह्म है, जिस का कोई कारण नहीं, जिस का कोई कार्य नहीं, जिस के कुछ अन्दर नहीं, जिस के कुछ बाहर नहीं, यह आत्मा ब्रह्म सब का अनुभव करने वाला है यह (उपनिषद्) की शिक्षा है ॥१९॥

---

* परमात्मा इस विश्व के हर एक छोटे बड़े पदार्थ में व्यापक है। और उस के हरएक प्रदेश में व्यापक होने से उसी के प्रतिरूप हो कर व्यापक है । और यह सारा विश्व उस के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है, इस लिए यह अपने प्रकाश से उसी को दिखलाता है। या यूं कहो कि ब्रह्माण्ड एक रथ है जिस को वह अनन्त शक्तियों (घोड़ों) से चला रहा है जो उस की शक्तियें भिन्न २ देवताओं से भिन्न २ रूपों में प्रकट होती हैं, वस्तुतः वे सारी शक्तियें उस से पृथक् नहीं हैं ॥

छटा ब्राह्मण (वंश ब्राह्मण)

अथर्वंशः-पौतिमाष्यो गौपवनाद्, गौपवनः पौतिमाष्यात्, पौतिमाष्यो गौपवनाद्, गौपवनः कौशिकात्, कौशिकः कौण्डिन्यात्, कौण्डिन्यः शाण्डिल्यात्, शाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्याद्, आग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्च, आनभिम्लात आनभिम्लाताद्, आनभिम्लात आनभिम्लाताद्, आनभिम्लातो गौतमाद्, गौतमः सैतव प्राचीनयोग्याभ्यां, सैतव प्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्, पाराशर्यो भारद्वाजात्, भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च, गौतमो भारद्वाजाद्, भारद्वाजः पाराशर्यात्, पाराशर्यो बैजवापायनाद्, बैजवापायनः कौशिकायनेः, कौशिकायनिः ॥ २ ॥ घृतकौशिकाद्, घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्, पाराशर्यायणः पाराशर्यात्, पाराशर्यो जातूकर्ण्यात्, जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्च, आसुरायणस्त्रैवणेः, त्रैवाणिरौपजन्धनेः, औपजन्धनिरासुरेः, आसुरिर्भारद्वाजाद्, भारद्वाज आत्रेयाद्, आत्रेयो माण्टेः, माण्टिर्गौतमाद्, गौतमो गौतमाद्, गौतमो वात्स्याद्, वात्स्यः शाण्डिल्यात्, शाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात्, कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्, कुमारहारितो गालवाद्, गालवो विदर्भी कौण्डिन्याद्, विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्, वत्स

नपाद् बाभ्रवः पथः सौभरात्, पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसाद्, अयास्य आङ्गिरस आभूते स्त्वाष्ट्राद्, आभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात् त्वाष्ट्राद्, विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्याम्, अश्विनौ दधीच आथर्वणाद्, दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवाद्, अथर्वा दैवो मृत्यो प्राध्वꣳसनाद्, मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्, प्रध्वꣳसन एकर्षेः, एकर्षिर्विप्रचित्तेः, विप्रचित्तिर्व्यष्टेः, व्यष्टिः सनारोः, सनारुः सनातनात्, सनातनः सनगात्, सनगः परमेष्ठिनः, परमेष्ठी ब्रह्मणः, ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अब वंश कहते हैं-(१) पौतिमाष्य गौपवन से (२) गौपवन पौतिमाष्य से (३) पौतिमाष्य गौपवन से (४) गौपवन कौशिक से (५) कौशिक कौण्डिन्य से (६) कौण्डिन्य शाण्डिल्य से (७) शाण्डिल्य कौशिक और गौतम से (८) गौतम * ॥ १ ॥ आग्निवेश्य से (९) आग्निवेश्य शाण्डिल्य

---

* उपनिषद् के रहस्य परम्परा से (सीना बसीना) एक दूसरे के पास पहुंचते रहे हैं, सो पूर्व कहे हुए रहस्य जिस क्रम से एक दूसरे के पास पहुंचे हैं, उस का वर्णन इस वंश ब्राह्मण में हैं । यह वंश गुरुशिष्य की परम्परा का वंश है। इन में से पहला शिष्य का नाम और दूसरा गुरु का नाम है। ये नाम गोत्र नाम हैं। जहां कहीं एक ही नाम गुरु और शिष्य का पाया जाता है वहां जो गोत्र शिष्य का है वही गुरु का है इस लिए एक ही नाम है। और गोत्र नाम होने के कारण ही

और आनभिम्लात से (१०) आनभिम्लात आनभिम्लात से (११) आनभिम्लात आनभिम्लात से (१२) आनभिम्लात गौतम से (१३) गौतम सैतव और प्राचीनयोग्य से (१४) सैतव और प्राचीन योग्य पाराशर्य से (१५) पाराशर्य भारद्वाज से (१६) भारद्वाज भारद्वाज और गौतम से (१७) गौतम भारद्वाज से (१८) भारद्वाज पाराशर्य से (१९) पाराशर्य बैजवापायन से (२०) बैजवापायन कौशिकायनि से (२१) कौशिकायनि ॥ २ ॥ घृत कौशिक से (२२) घृतकौशिक पाराशर्यायण से (२३) पाराशर्यायण पाराशर्य से (२४) पाराशर्य जातू कर्ण्य से (२५) जातूकर्ण्य आसुरायण और यास्क से (२६) आसुरायण त्रैवणि से (२७) त्रैवणि औपजन्धनि से (२८) औपजन्धनि आसुरि से (२९) आसुरि भारद्वाज से (३०) भारद्वाज आत्रेय से (३१) आत्रेय माण्टि से (३२) माण्टि गौतम से (३३) गौतम गौतम से (३४) गौतम वात्स्य से (३५) वात्स्य शाण्डिल्य से (३६) शाण्डिल्य कैशोर्य काप्य से (३७) कैशोर्य-काप्य कुमारहारित से (३८) कुमार हारित गालव से (३९) गालव विदर्भी-कौण्डिन्य से (४०) विदर्भी कौण्डिन्य वत्सनपात्-बाभ्रव से (४१) वत्सनपात्

जो नाम एक बार आचुका है, वह फिर आगे भी आया है। वंश ब्राह्मण चौथे और छटे अध्याय की समाप्ति में भी है और चौथे अध्याय में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य का सम्वाद भी दुबारा आया है। जो यहां दूसरे अध्याय में आचुका है। इससे प्रतीत होता है, कि बृहदारण्यक के दो २ अध्यायों का अलग २ संग्रह हुआ है॥

बाभ्रव पथि-सौभर से (४२) पथि-सौभर अयास्य-आङ्गिरस से (४३) अयास्य आङ्गिरस आभूति-त्वाष्ट्र से (४४) आभूति-त्वाष्ट्र विश्वरूप त्वाष्ट्र से (४५) विश्वरूप-त्वाष्ट्र अश्वियों से (४६) अश्वि दध्यङ्-आथर्वण से (४७) दध्यङ्-आथर्वण अथर्वा दैव से (४८) अथर्वा-दैव मृत्यु-प्राध्वंसन से (४६) मृत्यु-प्राध्वंसन प्रध्वंसन से (५०) प्रध्वंसन एकर्षि से (५१) एकर्षि विप्रचित्ति से (५२) विप्रचित्ति व्यष्टि से (५३) व्यष्टि सनारु से (५४) सनारु सनातन से (५५) सनातन सनग से (५६) सनग परमेष्ठी से (५७) परमेष्ठी ब्रह्म से (५८) ब्रह्म स्वयम्भु है (अपने आप है) ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ३ ॥

तीसरा अध्याय पहला ब्राह्मण (आश्वल ब्राह्मण)

ओं जनको ह वैदेहो बहुदाक्षिणेन यज्ञेनेजे। तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः । तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव, कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाꣳसहस्रमवरुरोध । दश दश पादा एकैकस्या शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

जनक वैदेह * ने एक बहुत दक्षिणा वाला (अश्वमेध) यज्ञ किया। वहां कुरुओं * और पांचालों * के ब्राह्मण इकट्ठे

* विदेह, कुरु और पञ्चाल ये तीनों क्षत्रियों की जातियें थीं। इन जातियों में से जहां जिस का निवास था, वह देश

हुए थे। उस जनक वैदेह को यह जानने की इच्छा हुई, कि इन ब्राह्मणों में से कौन सब से बढ़ कर वेद का जानने वाला है। सो उस ने हज़ार गौएं (गोशाला में) रोकीं, जिन में से एक २ के सींगों पर दस २ (सोने के) पाद बांधे हुए थे * ॥

तान्होवाच–'ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः, स एता गा उदजताम्' इति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः, अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाच 'एताः सौम्योदज सामश्रवा३' इति। ता होदाचकार। ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेति। अथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव। स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३' इति। स होवाच–'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः, गोकामा एव वयꣳस्मः' इति। तꣳह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः॥ २॥

पास देशों में विदेह निवास करते थे, वर्तमान दिल्ली के आस पास देशों में कुरु और वर्तमान कन्नौज के आस पास देशों में पञ्चाल निवास करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में यहां के क्षत्रियों के पराक्रम और ब्राह्मणों की विद्या और धर्मभाव की बहुत कुछ प्रशंसा पाई जाती है।

* अर्थात् एक २ सींग पर पांच २ सोने के पाद बांधे हुए थे। पाद=पल का चौथा हिस्सा, सोने का सिक्का (शङ्क-

(जनक ने) उन को कहा–' भगवान् ब्राह्मणो ! जो तुम में से सब से बढ़कर ब्रह्मा * है, वह इन गौओं को हांक ले ' ॥ पर उन ब्राह्मणों (में से किसी) का हौसला नहीं पड़ा। तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही एक ब्रह्मचारी को कहा–' प्यारे साम-श्रवा † इन (गौओं) को हांक लेजा ' । वह हांक ले गया ॥ तिस पर वे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए, कि किस तरह हम में से वह अपने आप को सब से बढ़ कर ब्रह्मा कह सकता है ? अब, (जो उन में) जनक वैदेह का होता अश्वल था । उस ने इस को पूछा–' क्या तू याज्ञवल्क्य ! हम में से सब से बढ़ कर ब्रह्मा है ' ? उस ने कहा–' हम सब से बढ़ कर ब्रह्मा को नमस्कार करते हैं, हम (आजकल) गौओं की कामना वाले हैं ' ॥ उस को उसी से होता अश्वल पूछने लगा ॥ २ ॥

---

* ब्रह्मा=चारों वेदों का जानने वाला–ऐतरेय ब्राह्मण में चारों ऋत्विजों का काम इस प्रकार विभक्त किया है कि ऋग्वेद से होता का काम, यजुर्वेद से अध्वर्यु का, सामवेद से उद्गाता का, और ऋचा यजु, साम तीनों से ब्रह्मा का काम किया जाता है ।

† सामश्रवा यह शिष्य का नाम प्रतीत होता है, और उस समय इस प्रकार के नामों का प्रचार था, जैसा कि महा-भारत १ । ३ । १३ में श्रुतश्रवा ऋषि है, और उस का पुत्र सोमश्रवा आया है' ॥ याज्ञवल्क्य से यह शिष्य सामवेद पढ़ता था इस लिए उसे सामश्रवा कहा है, इस से यह बात सिद्ध होती है कि याज्ञवल्क्य चारों वेदों का जानने वाला था (शङ्क-राचार्य) याज्ञवल्क्य यजुर्वेद का प्रसिद्ध अध्यापक है, उस से

याज्ञवल्क्येति होवाच-'यदिदꣳसर्वं मृत्युनाप्तꣳसर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं, केन यजमानो मृत्योराप्ति मतिमुच्यते' होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा। वाग्वै यज्ञस्य होता। तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः, स होता, स मुक्तिः, साऽति मुक्तिः ॥ ३॥

यह ब्रह्मचारी साम सुनता है । और साम ऋचाओं में गाया जाता है और अथर्ववेद तीनों ही वेदों के अन्तर्भूत है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि याज्ञवल्क्य चारों वेदों का जानने वाला है, क्योंकि केवल यजुर्वेदी के पास से सामवेद का पढ़ना नहीं बन सकता (आनन्दगिरि) कई व्याख्याकारों ने सामश्रवा यह याज्ञवल्क्य का सम्बोधन माना है अर्थात् याज्ञवल्क्य ने कहा हे प्यारे ! इन गौओं को हांक ले । तब वह ब्रह्मचारी 'हे सामश्रवा' यह कह कर उन गौओं को हांक ले गया। उनका आशय यह है, कि याज्ञवल्क्य यजुर्वेद का अध्यापक था उस को चतुर्वेदी जितलाने के लिए उस के शिष्य ने उसे सामश्रवा कह कर सम्बोधित किया है। पर इस अर्थ में 'उदज' के आगे एक इति शब्द और चाहिये । उपनिषद् में जैसा पाठ है, उस का वही अर्थ बन सकता है जो ऊपर हम ने दिया है। दूसरा यहां याज्ञवल्क्य को सामश्रवा कहने से यही अभिप्रेत हो सकता है कि याज्ञवल्क्य चतुर्वेदी है यह अभिप्राय शिष्य को सामश्रवा कहने से भी सिद्ध हो जाता है । शिष्य को सामश्रवा कहना तो इस लिए ठीक होगा कि वह सामवेद पढ़ता है। पर याज्ञवल्क्य जब चतुर्वेदी है; तो उस को सामश्रवा कहने का कोई हेतु नहीं। वस्तुतः तो चतुर्वेदी के लिए ब्रह्मा शब्द ही बोला

उस ने कहा-' हे याज्ञवल्क्य ! जब यह (यज्ञ सम्बन्धि) हरएक वस्तु मृत्यु की पहुंच में है, हरएक वस्तु मृत्यु के वश में है। तो फिर किस साधन से यजमान मृत्यु की पहुंच से अतिमुक्त हो जाता है (पूरा आज़ाद हो जाता है)। (उसने उत्तर दिया) होता ऋत्विक् से, जो अग्नि है, जो वाणी है। क्योंकि वाणी यज्ञ का होता है, और यह वाणी अग्नि है, और वह (अग्नि) होता है, वह (होता) मुक्ति (मृत्यु से छूटना) है और वह अतिमुक्ति (मृत्यु से पूरा २ छूट जाना) है* ॥३॥

जाता है और यही जनक ने पूछा था कि तुम में से ब्रह्मिष्ठ अर्थात् सब से बढ़कर ब्रह्मा कौन है। सो यदि यह याज्ञवल्क्य को चतुर्वेदी जितलाने के लिए सम्बोधन होता, तो ब्रह्मन् वा ब्रह्मिष्ठ होता। सामश्रवा कहने का कोई हेतु नहीं, इस लिए सामश्रवा नाम है तो शिष्य का है, यौगिक शब्द है, तो शिष्य के लिए है॥

* व्यष्टि जीवन को समष्टि से मिलाना यज्ञ का उद्देश्य है, सो यह बात इस सारी प्रश्नोत्तरी में बतलाई गई है, प्रश्न यह था कि यज्ञ के जो साधन हैं, वे मृत्यु की पहुंच में हैं, तो फिर यज्ञ करने वाला इन साधनों से क्योंकर मृत्यु से पार उतरता है। उत्तर यह है कि मृत्यु व्यष्टि के लिए है, समष्टि के लिए नहीं। व्यष्टि का फिर समष्टि में मिल जाना ही व्यष्टि के लिए मृत्यु है। वाणी व्यष्टि है और अग्नि समष्टि है, क्योंकि 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐत० आ० २। ४। २४) अग्नि वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुई है। सो उस वाणी की व्यष्टिसीमा को तोड़ कर उसे समष्टि अग्नि के साथ मिला

याज्ञवल्क्येति होवाच–'यदिद्ꣳसर्वमहोरात्राभ्यामाप्तꣳसर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं, केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यते' इति। 'अध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः, तद् यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽति मुक्तिः' ॥ ४ ॥

उस ने कहा–'हे याज्ञवल्क्य! जब यह (यज्ञ सम्बन्धि) हरएक वस्तु दिन और रात की पहुंच में है, हरएक वस्तु दिन और रात के वश में है। तो फिर किस साधन से यजमान दिन और रात की पहुंच से अतिमुक्त हो जाता है॥ (याज्ञवल्क्य ने कहा) अध्वर्यु ऋत्विज् से जो आंख है, जो सूर्य्य है *। क्योंकि आंख यज्ञ का अध्वर्यु है, और आंख सूर्य्य है, और वह (सूर्य्य) अध्वर्यु है, वह (अध्वर्यु) मुक्ति है, वह अति मुक्ति है॥ ४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच–'यदिद्ꣳसर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳसर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं। केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्ति मतिमुच्यते' इति। उद्गात्रर्त्विजा वायु-

---

देना (एक समझना) ही बाणी को मौत से छुड़ाना है। अधियज्ञ में बाणी होता का काम करती है, वही होता अधिदैवत में अग्नि है। इसलिए कहा है–जो होता ऋत्विक् है वही बाणी है वही अग्नि है।

* व्यष्टि आंख के लिए दिन रात है, वह समष्टि सूर्य्य के साथ एक होने से दिन रात की पहुंच से पार हो जाती है॥

ना प्राणेन। प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता, तद्योऽयं प्राणः,स वायुः, स उद्गाता, स मुक्तिः, साऽति मुक्तिः ॥ ५ ॥

उस ने कहा-' हे याज्ञवल्क्य ! जब यह (यज्ञ सम्बन्धि) हरएक वस्तु पहले पक्ष (शुक्लपक्ष, जिस में चांद बढ़ता है) और दूसरे पक्ष (कृष्ण पक्ष, जिस में चांद घटता है) की पहुंच में है, हरएक वस्तु पहले पक्ष और दूसरे पक्ष के वश में है । तो फिर किस साधन से यह यजमान मृत्यु की पहुंच से अतिमुक्त होता है ॥

(याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) उद्गाता ऋत्विक् से, जो वायु है, जो प्राण है । प्राण यज्ञ का उद्गाता है, और प्राण वायु है, वह उद्गाता है, वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है * ॥५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच-'यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव। केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमते' इति । ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा, तद्यदिदं मनः, सोऽसौ चन्द्रः, स ब्रह्मा, स मुक्तिः, सा अतिमुक्तिः' इत्यतिमोक्षाः, अथ सम्पदः ॥ ६ ॥

उस ने कहा-' हे याज्ञवल्क्य ! जब यह अन्तरिक्ष मानो बिना सहारे (सीढ़ी) के है । तो फिर यह यजमान किस

* दिन रात का बनाने वाला सूर्य है और शुक्ल कृष्ण पक्षों का बनाने वाला चन्द्र है, इस लिए दिन रात से अलग पक्षों के विषय में प्रश्न उत्तर है ।

चढ़ाव से स्वर्ग लोक पर चढ़ जाता है। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ब्रह्मा ऋत्विज् से, जो मन है, जो चन्द्र है। क्योंकि मन यज्ञ का ब्रह्मा है, और यह मन चन्द्र है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है। ये अतिमोक्ष (पूरे छुटकारे हैं मृत्यु से) ॥ ६ ॥

सं—अब सम्पदाएं * (कर्म का फल ऐश्वर्य कहते हैं) ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच – 'कतिभिरयमद्यर्ग्भि र्होताऽस्मिन् यज्ञे करिष्यति' इति। 'तिसृभिः' इति। 'कतमास्तास्तिस्रः' इति। 'पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया'। 'किं ताभिर्जयति' इति। 'यत् किञ्चेदं प्राणभृद्' इति ॥७॥

उस ने कहा–'हे याज्ञवल्क्य! कितनी ऋचाओं से आज यह होता इस यज्ञ में (होता का काम) करेगा'? (उस ने उत्तर दिया) 'तीन से'। 'वे तीन कौन सी हैं'? (उस ने उत्तर दिया) 'पुरोऽनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या'†।

---

* सम्पदा-अग्निहोत्र आदि जो छोटे कर्म हैं, उनमें अश्वमेध आदि बड़े कर्मों का वा उन के फलों का ख्याल करना। जब पुरुष किसी कारण से अश्वमेध आदि यज्ञों के असमर्थ हो, तो जिस ने अग्न्याधान किया हुआ है, वह पुरुष अग्निहोत्र आदि कर्मों में से यथासम्भव किसी को लेकर उस कर्म में जिस के फल की कामना करता है, वही सम्पादन कर लेता है (शंकराचार्य)।

† पुरोऽनुवाक्या जो यजन (हवि डालने) से पूर्व पढ़ी जाती है। याज्या जो यजन काल में पढ़ी जाती है। शस्या जिस से स्तुति की जाती है।

इन ऋचाओं से वह (यजमान) क्या जीतता है (क्या फल लाभ करता है) ' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' जो कुछ यह प्राणधारी है ' ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच-' कत्ययमद्याध्वर्यु रस्मिन् यज्ञ आहुतीर्होष्यति ' इति। 'तिस्रः ' इति। 'कतमास्तास्तिस्रः' इति। ' या हुता उज्ज्वलन्ति, या हुता अतिनेदन्ते ' या हुता अधिशेरते '। ' किं ताभिर्जयति ' इति। ' या हुता उज्ज्वलन्ति, देवलोकमेव ताभिर्जयति, दीप्यते इव हि देवलोकः। या हुता अतिनेदन्ते, पितृलोकमेव ताभिर्जयति, अतीव हि पितृलोकः। या हुता अधिशेरते, मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयति, अध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

उस ने कहा-' हे याज्ञवल्क्य ! यह अध्वर्यु आज इस यज्ञ में कितनी आहुतियें होमेगा, (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' तीन ' ' वे तीन कौन सी हैं ' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' वे, जो होम की हुईं चमकती हैं, और वे, जो होम की हुईं बहुत शब्द करती हैं, और वे, जो होम की हुईं नीचे जा ठहरती हैं'। 'उन से वह क्या जीतता है ' ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' जो होम की हुईं चमकती हैं, उन से वह देवलोक को ही जीतता है, क्योंकि देवलोक मानो चमकता है । और जो होम की हुईं बहुत शब्द करती हैं, उन से वह पितृलोक ही जीतता है, क्योंकि पितृलोक मानो अति शब्द वाला है।

और जो होम की हुईं नीचे बैठ जाती हैं, उनसे वह मनुष्य लोक को ही जीतता है, क्योंकि मनुष्य लोक मानों नीचे है ॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच–'कतिभिरयमद्य ब्रह्मा दक्षिणतो यज्ञं देवताभिर्गोपायति' इति । 'एकया' इति । 'कतमा सैका' इति । 'मन एव' इति । अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे-देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' ॥ ९ ॥

उस ने कहा–'हे याज्ञवल्क्य! यह ब्रह्मा आज दक्षिण से (यज्ञ में ब्रह्मा दक्षिण दिशा में बैठता है) कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करेगा' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'एक से'। 'वह एक कौन है'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) मन ही है, क्योंकि मन अन्त से रहित है और विश्वेदेव भी अन्त से रहित हैं, अतएव वह (उस का जानने वाला) उस से अन्त रहित लोक को जीतता है ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच–'कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन् यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यति' इति । 'तिस्रः' इति । 'कतमास्ता-स्तिस्रः' इति । 'पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृती-या' । 'कतमास्ता या अध्यात्मम्' इति । 'प्राण एव पुरो-ऽनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या' 'किं ताभिर्जयति' इति । 'पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया जयति, अन्तरिक्ष-लोकं याज्यया, द्युलोकꣳ शस्यया' । ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

उस ने कहा-'हे याज्ञवल्क्य ! कितनी वे स्तोत्रिय (स्तोत्र बनाने वाली) ऋचाएं हैं, जिन से यह उद्गाता आज इस यज्ञ में स्तुति करेगा' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'तीन'। 'वे तीन कौन सी हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'पुरोऽनवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या'। अच्छा, तो वे कौन (ऋचाएं) हैं जो शरीर में (अध्यात्म) हैं'। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)। 'प्राण (सांस निकालना) ही पुरोऽनुवाक्या है, अपान (सांस का अन्दर खींचना) याज्या है, और व्यान (सांस को वापिस लौटाना) शस्या है। 'उन से वह क्या जीतता है'? पृथिवी लोक को ही पुरोऽनुवाक्या से जीतता है, अन्तरिक्ष लोक को याज्या से और द्यु लोक को शस्या से। तब होता अश्वल चुप हो गया * ॥ १० ॥

दूसरा ब्राह्मण (आर्तभाग ब्राह्मण)

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच-'कति ग्रहाः कत्यतिग्रहाः, इति। 'अष्टौग्रहा अष्टावतिग्रहाः' इति। 'ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः, कतमे ते' इति ॥ १ ॥

तब इस को जारत्कारव (जरत्कारु गोत्र वाले) आर्तभाग (ऋतभाग के पुत्र) ने पूछा। उस ने कहा-'हे याज्ञव-

* उद्गता इन ऋचाओं को प्राण के आश्रय गाता है इस लिए इन तीनों को प्राण अपान व्यानरूप ठहरा कर उन का अलग २ फल बतलाया है।

ल्क्य कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं * (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं' (फिर पूछा) ' जो वे आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन से हैं ? ॥ १ ॥

प्राणो वै ग्रहः, सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतः, अपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥ वाग्वै ग्रहः, स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतः, वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥

प्राण (सांस निकालना) एक ग्रह है और वह अपान (अन्दर साँस खींचना अर्थात् गन्ध ग्रहण करना) रूपी अतिग्रह † से पकड़ा हुआ है, क्योंकि अपान से गन्धों को सूंघता है ॥ २ ॥ वाणी एक ग्रह है, और वह (ग्रह) नामरूपी

---

* ग्रह शब्द प्रायः यज्ञ की परिभाषा में उस लकड़ी के कटोरे का नाम है जिस में सोमहवि डाली जाती है। पर यहां ग्रह शब्द पकड़ने वाले अर्थात् वश में करने वाले के अर्थ में है और अभिप्राय इन्द्रियों से है क्योंकि इन्द्रिय मनुष्य को बांधते हैं, इस लिए इन्द्रिय ग्रह हैं, और इन्द्रियों की यह शक्ति विषयों के अधीन हैं, विना विषयों के इन्द्रिय भी बांधने में असमर्थ हैं, इस लिए विषय अतिग्रह हैं । पूर्व मुक्ति और अतिमुक्ति कह आए हैं, यहां इस के मुकाबिले में ग्रह और अतिग्रह कहे हैं ॥

† यहां मूल में अतिग्राह शब्द है । अतिग्रह और अतिग्राह दोनों शब्द समानार्थक हैं । अतिग्राह में दीर्घ छान्दस है ॥

अतिग्रह से पकड़ा हुआ है। क्योंकि वाणी से नामों को उच्चारण करता है ॥ ३ ॥

जिह्वा वै ग्रहः, स रसेनातिग्राहेणगृहीतः, जिह्वया हि रसान् विजानाति ॥ ४ ॥ चक्षुर्वै ग्रहः, स रूपेणाति ग्राहेण गृहीतः, चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥ श्रोत्रं वै ग्रहः, स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः, श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ॥६॥ मनो वै ग्रहः, स कामेनातिग्राहेण गृहीतः मनसा हि कामान् कामयते ॥ ७॥ हस्तौ वै ग्रहः, स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतः, हस्ताभ्याᳫं हि कर्म करोति ॥८॥

जिह्वा एक ग्रह है, और वह रसरूपी अतिग्रह से पकड़ा हुआ है, क्योंकि जिह्वा से ही रसों को जानता है ॥ ४ ॥ आंख ग्रह है, वह रूप जो अतिग्रह है उस से पकड़ा हुआ है क्योंकि आंख से रूपों को देखता है ॥ ५ ॥ काम एक ग्रह है, वह शब्द जो अतिग्रह है उस से पकड़ा हुआ है, क्योंकि कान से शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥ मन एक ग्रह है, और वह कामना जो अतिग्रह है, उस से पकड़ा हुआ है, क्योंकि मन से कामनाओं को चाहता है ॥ ७ ॥ दोनों हाथ एक ग्रह हैं, और वह (ग्रह) कर्म जो अतिग्रह है, उस से पकड़ा हुआ है, क्योंकि हाथों से कर्म करता है ॥ ८ ॥

त्वग्वै ग्रहः, स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतः, त्वचा हि स्पर्शान् वेदयते इत्येतेऽष्टौग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

त्वचा एक ग्रह है, और वह स्पर्श जो अतिग्रह है उस

से पकड़ा हुआ है, क्योंकि त्वचा से स्पर्शों को जानता है। ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच-'यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं, कास्वि-त्सा देवता, यस्या मृत्युरन्नम्' इति। 'अग्निर्वै मृत्युः, सोऽपामन्नम्। अपपुनर्मृत्युं जयति' ॥ १० ॥

उस ने कहा-'हे याज्ञवल्क्य! जो यह हर एक वस्तु मृत्यु का अन्न (खुराक) है, फिर वह कौन देवता है, जिस का मृत्यु अन्न है। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'अग्नि मृत्यु है, और वह जलों का अन्न है। वह फिर मृत्यु को जीत लेता है * ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच-'यत्रायं पुरुषो म्रियते, उद-स्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो न' इति। 'न' इति होवाच याज्ञवल्क्यः, 'अत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्माय-त्याध्मातो मृतः शेते' ॥ ११ ॥

उस ने कहा-'हे याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मरता है,

---

* प्रश्न का अभिप्राय यह है, कि बन्धन जो मृत्यु है, उस से हम तब छूट सकते हैं, यदि कोई मृत्यु की मृत्यु हो। उत्तर का अभिप्राय यह है, कि अग्नि दूसरी वस्तुओं का मृत्यु है, तो भी पानी उस को जीत लेता है, इसी से जानना चाहिये कि मृत्यु को भी जीत सकते हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वह मृत्यु को जीत लेता है।

तो इस से प्राण निकल जाते हैं वा नहीं ' याज्ञवल्क्य ने कहा ' नहीं, इस में ही वे मिल जाते हैं, वह फूल जाता है, (बाहर के) वायु से भर जाता है और इस तरह वह वायु से भरा हुआ मृत हुआ लेटता है ' * ॥ ११ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—' यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहाति ' इति । ' नाम ' इति। अनन्तं वै नाम, अनन्ता विश्वेदेवाः, अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

उस ने कहा—' हे याज्ञवल्क्य ! जब यह पुरुष मरता है, तो क्या वस्तु इस को नहीं छोड़ती ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' नाम ' । नाम अन्त रहित है और विश्वेदेव अन्तरहित हैं । वह उस से (=अनन्त के जानने से) अनन्त लोक को ही जीतता है ' ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच—' यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीꣳशरीरम् . आकाशमात्मा, ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः, अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते । क्वायं तदा पुरुषो भवति ' इति ? ' आहर सोम्य हस्तमार्तभागावामे-

---

* प्राण=वासनाएं, वह पुरुष जो मृत्यु को जीत चुका है, उस की वासनाएं (संस्कार) उस के साथ जाकर उस के जन्मान्तर का हेतु नहीं बनतीं, किन्तु वहीं लीन हो जाती हैं (शंकराचार्य) ।

चैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजने' इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते, तौ ह यदूचतुः, कर्म हैव तदूचतुः। अथ यत् प्रशशꣳसतुः, कर्म हैव तत् प्रशशꣳसतुः। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' इति । ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥

उस ने कहा–' हे याज्ञवल्क्य ! जब इस मर चुके हुए पुरुष * की बाणी आग में जा मिलती है, प्राण वायु में, आंख सूर्य में, मन चन्द्र में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा (हृदयाकाश, शङ्कराचार्य) आकाश में, (शरीर के) रोम ओषधियों में (शिर के) बाल बनस्पतियों में, तथा लहू और वीर्य जलों में, रक्खा जाता है, तो यह पुरुष कहां होता है' ? (याज्ञवल्क्य ने कहा) ' प्यारे आर्तभाग हाथ लाओ, इस बात को अकेले हम ही दोनों जानेंगे, हम इस को लोगों में नहीं (विचारेंगे)। दोनों ने (वहां से) निकल कर विचार किया। उन्हों ने जो कुछ कहा, वह कर्म ही कहा । और जिस की प्रशंसा की, वह कर्म ही की प्रशंसा की। निःसन्देह पुण्य कर्म से पुण्यात्मा बनता है, और पाप कर्म से पापी बनता है † । तब जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

---

* यहां उस पुरुष से अभिप्राय है, जिस को यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ किन्तु कर्मपरायण ही है (शंकराचार्य्य) ॥

† प्रश्न का अभिप्राय यह है, कि जब मनुष्य की सारी शक्तियें अपने २ कारण में मिल जाती हैं, तो फिर यह पुरुष

तीसरा ब्राह्मण (भुज्यु ब्राह्मण)

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच—' मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम, ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम । तस्यासीद् दुहिता गन्धर्वगृहीता, तमपृच्छाम, 'कोऽसि ' इति । सोऽब्रवीत्—' सुधन्वाऽऽङ्गिरसः ' इति । तं यदा लोकानामन्तानपृच्छाम, अथैनमब्रूम, क्व पारिक्षता अभवन्' इति। क्व पारिक्षता अभवन्। स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य ! क्व पारिक्षता अभवन् ' इति ॥ १ ॥

* अब इस को भुज्यु लाह्यायनि (लह्य का पोता) पूछने लगा। उसने कहा–' हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्र देशों में विद्यार्थी के तौर पर † इधर उधर फिर रहे थे, फिरते फिराते हम पतञ्चल काप्य (कपिगोत्र) के घरों में पहुंचे। उस की एक कन्या गन्धर्व ‡ के वशीभूत थी। हम ने उस को पूछा ' तू कौन है'।

किस के सहारे उन को फिर ग्रहण करता है, उत्तर यह है, कि यह सारी महिमा कर्म की है, कर्म के आश्रय वह फिर इन शक्तियों को ग्रहण कर संसार में आता है और वह पुण्यों से पुण्यात्मा और पापों से पापी बनता है।

* इस सारे ही ब्राह्मण का अभिप्राय समझ में नहीं आया॥ † चरकाः–विद्या पढ़ने के लिए व्रत के आचरण करने से चरक कहलाते हैं अथवा चरक अध्वर्यु विशेष हैं॥

‡ गन्धर्व, कोई अमानुषसत्व अथवा धिष्ण्य अग्नि ऋत्विग् देवता क्योंकि सत्वमात्र को ऐसा विज्ञान नहीं हो सकता (शंकराचार्य)।

उस ने (गन्धर्व ने) उत्तर दिया ' मैं सुधन्वा आङ्गिरस (गोत्र का) हूं '। और जब हम ने उस को लोकों के अन्तों के विषय में पूछा, (अर्थात् इन सारे लोक लोकान्तरों का अन्त कहाँ है, पूछा) तो हम ने उसे कहा 'पारिक्षत * कहां थे' पारिक्षत कहां थे वह मैं तुझे पूछता हूं हे याज्ञवल्क्य पारिक्षत कहां थे ॥१॥

स होवाच—'उवाच वै सः, अगच्छन् वै ते तद्, यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति' इति। 'क न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति ' इति ? द्वात्रिꣳशतं वै देवरथान्ह्यान्ययं लोकः, तꣳसमन्तं पृथिवी द्विस्तावत् पर्येति, ताꣳसमन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् समुद्रः पर्येति। तद् यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं, तावानन्तरेणाकाशः। तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्, तान् वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्, यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन् ' इति। एवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस। तस्माद्वायुरेव व्यष्टिः, वायुः समष्टिः। अपपुनर्मृत्युं जयति, य एवं वेद। ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

उस ने (याज्ञवल्क्य ने) कहा-' उस ने (गन्धर्व ने) कहा था, कि वे वहां गए, जहां अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते

---

* पारिक्षत एक पुराना राजवंश है, जिस वंश के राजे अश्वमेध करते रहे हैं। अब वह वंश पृथिवी से नाश होगया है॥

हैं'। 'कहां अश्वमेध करने वाले जाते हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) देवरथ (सूर्य्य) की वत्तीस दिन की जितनी यात्रा है, उतना यह लोक है, उसके चारों ओर उस से दुगनी पृथिवी उसे घेरे हुए है. उस से दुगना समुद्र उस पृथिवी को चारों ओर से घेरे हुए है। सो जितनी छुरे की धारा वा मक्खी का पंख है, उतना मध्य में आकाश * है। इन्द्र † ने पक्षी बन कर उन को (उस आकाश में से गुजार कर) वायु को दे दिया, और वायु ने उन को अपने आप में धारण करके वहां पहुंचाया, जहां अश्वमेध यज्ञ करने वाले थे'। इस तरह पर उस ने वायु की ही प्रशंसा की। क्योंकि वायु ही व्यष्टि है (अपने आप में हरएक अलग २ वस्तु है) और वायु ही समष्टि (सब वस्तुएं इकट्ठी) है। (जो इस को जानता है) वह फिर मृत्यु को जीत लेता है। तब भुज्यु लाह्यायनि चुप हो गया ॥२

चौथा ब्राह्मण (उषस्त ब्राह्मण) ‡

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति

---

* ब्रह्माण्ड के दोनों कपालों (छिलकों) के मध्य में आकाश अर्थात् अति सूक्ष्म छेद है (शंकराचार्य)॥

† इन्द्र=परमेश्वर अश्वमेध का अग्नि जिस का पूर्व १। २।३ में 'तस्य प्राचीदिक् शिरः' इत्यादि वर्णन है (शंकराचार्य)॥

‡ पूर्व अश्वमेध आदि कर्मों का फल कहा है और वह मरने के पीछे होता है, अब इस फल के भोगने वाले का निर्णय करते हैं। मध्यन्दिन शतपथ में यह ब्राह्मण अगले पांचवें कहोल कौषीतकेय ब्राह्मण से पीछे आया है।

होवाच–' यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व ' इति ? 'एष त आत्मा सर्वान्तरः । ' कतमो याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तरः ' ? ' यः प्राणेन प्राणिति, स त आत्मा सर्वान्तरः । योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरः । यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरः । य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तरः । एष त आत्मा सर्वान्तरः ' ॥ १ ॥

अब उसे उषस्त चाक्रायण (चक्र के पुत्र) ने पूछा। उस ने कहा–' हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म * है, जो आत्मा सब के अन्दर है, वह मुझे बतलाओ ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) यह तेरा आत्मा है, जो सब के अन्दर है। ' कौनसा है वह हे याज्ञवल्क्य ! जो सब के अन्दर है' ? (याज्ञवल्क्य ने कहा) ' जो प्राण से सांस लेता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर † है। जो अपान से सांस अन्दर खींचता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है । जो व्यान से चेष्टा करता है, वह तेरा आत्मा सबके अन्दर है। जो उदान से ऊपर उठाता है, वह तेरा आत्मा सब के अन्दर है । यह तेरा आत्मा है जो सब के अन्दर है ॥ १ ॥

---

* यहां आत्मा को ब्रह्म कहा है, वह साक्षात् है क्योंकि अपना ज्ञान अर्थात् मैं हूं यह ज्ञान हर एक को है । और यह ब्रह्म अपरोक्ष है अर्थात् परब्रह्म की नाईं छिपा हुआ नहीं है ॥

† मन और प्राण आदि के अन्दर है।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणः, यथा विब्रूयाद् 'असौ गौर-सावश्वः' इति । एवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति । यदेव साक्षा-दपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व' इति । 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः'? न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारꣳशृणुयाः, न मतेर्म-न्तारं मन्वीथाः, न विज्ञाते र्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरः, अतोऽन्यदार्तम्' । ततो होषस्तश्चाक्रा-यण उपरराम ॥ २ ॥

उषस्त चाक्रायण ने कहा–' जैसे कोई कहे, कि वह गौ है, वह घोड़ा है, इस तरह पर यह बतलाया गया है *, जो

---

* उषस्त फिर प्रश्न करता है, कि मैंने यह पूछा था, कि साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म बतलाओ । तुझे वह साक्षात् दिखलाना चाहिये था । तुम साक्षात् न दिखला कर यह कहते हो कि जो प्राण से सांस लेता है वह आत्मा है इत्यादि । यह ऐसा ही उत्तर है, जैसे किसी से पूछा जाए कि गौ वा घोड़ा मुझे साक्षात् दिखलाओ और वह उसे उत्तर दे, कि वह गौ है जो दूध देती है और जिस के गले में कम्बल सा लटकता है। और घोड़ा वह है जिस पर सवार होते हैं । इस तरह का तेरा उत्तर है । मैं यह नहीं पूछता, मैं तो यह पूछता हूं कि मुझे साक्षात् दिखलाओ । याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, कि हम जिस दृष्टि द्वारा दृश्य को देखते हैं जो उस दृष्टि का देखने वाला है, उस को तू किस से देख सकता है, अर्थात् वह अपने अनुभव से पाया जाता है उसको हाथ पकड़ कर नहीं दिखला सकते ॥

ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सब के अन्दर है, वह मुझे बतलाओ '? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यह तेरा आत्मा सब के अन्दर है'। कौन है वह आत्मा हे याज्ञवल्क्य! जो सब के अन्दर है '? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) दृष्टि के (असली) देखने वाले को तू नहीं देख सकता, श्रुति के (असली) सुनने वाले को तू नहीं सुन सकता, मति के (असली) मानने वाले को तू नहीं मान सकता, विज्ञान के (असली) जानने वाले को तू नहीं जान सकता,। यह तेरा आत्मा सब के अन्दर है, और हर एक वस्तु नष्ट होने वाली (दुखिया) है। तब उषस्त चाक्रायण चुप हो गया ॥ २ ॥

पांचवां ब्राह्मण (कहोल ब्राह्मण)

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ। याज्ञवल्क्येति होवाच-'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' इति। एष त आत्मा सर्वान्तरः। 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः '? योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः। तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथमुनिः, अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः। स ब्राह्मणः केन स्याद्, येन स्यात् तेनेदृशएव. अतोऽन्य-

दार्त । ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

* अब उसे कहोल कौषीतकेय (कुषीतक का पुत्र) पूछने लगा । उस ने कहा–' हे याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सब के अन्दर है, वह मुझे बतलाइये' (याज्ञयल्क्य ने उत्तर दिया) 'यह तेरा आत्मा सब के अन्दर है '। ' कौनसा हे याज्ञवल्क्य ! सब के अन्दर है '। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ' जो भूख, प्यास, शोक, मोह बुढ़ापे और मृत्यु की पहुंच से परे है । इसी आत्मा को जान कर ब्राह्मण पुत्रों की कामना † से, धन की कामना से और (नए) लोकों ‡ की कामना से ऊपर उठ कर भिक्षावृत्ति से विचरते हैं । क्योंकि जो पुत्रों के लिए कामना है, वही धन के लिए कामना है, और जो धन के लिए कामना है, वही लोकों के लिए कामना है । क्योंकि ये दोनों कामनाएं ही हैं § । इसलिए

---

* उषस्त के प्रश्न में आत्मा का शरीर से अलग होना निर्णय किया है, पर उस की जो उच्च अवस्था है, उस का वर्णन नहीं हुआ, इसलिए कहोल ने फिर वही प्रश्न किया है ॥

† देखो बृह० उप० ४ । ४ । २२ ॥

‡ पितृलोक और देवलोक ।

§ एक कामना के साथ दूसरी कामना बन्धी हुई है । वह कामना चाहे फल के विषय में हो (जैसे तीनों लोकों के जय की कामना) और चाहे साधन के विषय में कामना हो (जैसे धन, पुत्र और यज्ञों की कामना है) वह सारी कामना ही है ॥

ब्राह्मण को चाहिये, कि जब वह पण्डिताई (विद्या) को पूरा कर चुके, तो असली बल (आत्मविद्या) के द्वारा खड़ा होने की इच्छा करे; और जब वह बल और पण्डिताई दोनों को पूरा कर चुके, तो मुनि (योगी) बन कर रहे; और जब वह अमौन (जो मुनि बनने से पहले लाभ किया है, अर्थात् पण्डि-ताई और बल) और मौन (मुनिपन) को पूरा कर चुके, तब वह ब्राह्मण है * वह ब्राह्मण किस आचरण से रहे; जिस से रहे, उस से वैसा ही है † इस से बिना सब कुछ दुःखिया है। तब कहोल कौषीतकेय चुप हो गया ॥ १ ॥

छटा ब्राह्मण (गार्गी ब्राह्मण)

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति होवा-

---

* कई टीकाकारों ने 'तस्मा...ब्राह्मणः' का यह अर्थ किया है, इस लिए ब्राह्मण को चाहिये, कि पण्डिताई को छोड़ कर बालकपन से रहने की इच्छा करे और बालकपन और पण्डिताई सब कुछ त्याग कर मुनि बन कर रहे, और फिर अमौन और मौन दोनों को त्याग कर वह ब्राह्मण (ब्रह्म-निष्ठ) बने ॥

† जो ऐसा पहुंचा हुआ है, उस के लिए कोई दुःख नहीं, बन्धन नहीं । वह हर एक अवस्था में एकरस ही है। हरएक हालत इस के लिये एक जैसी है । यह उस की प्रशंसा है । यह अभिप्राय नहीं, कि वह विरुद्ध आचरण भी कर सकता है, क्योंकि विरुद्ध आचरण तो होता ही आत्मा की दुर्बलता में है जिस को वह बहुत पहले तर चुका है ।

च-' यदिदꣳसर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? ' वायौ गार्गि' इति । 'कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्च' इति ? 'अन्तरिक्षलोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? ' गन्धर्वलोकेषु गार्गि ' इति । कस्मिन्नु खलुगन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? ' आदित्य लोकेषु गार्गि ' इति । कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? 'चन्द्रलोकेषु गार्गि ' इति । कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? ' नक्षत्रलोकेषु गार्गि ' इति । कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्च' इति ? देवलोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? 'इन्द्रलोकेषु गार्गि' इति । कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? प्रजापति लोकेषु गार्गि ' इति । ' कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? ब्रह्मलोकेषु गार्गि ' इति । कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च ' इति ? स होवाच-'गार्गि माऽति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तद्, अनातिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि, गार्गि मातिप्राक्षीः ' इति । ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ ६ ॥

अब इस को गार्गी वाचक्नवी (वचक्नु की पुत्री) पूछने लगी । उसने कहा-' हे याज्ञवल्क्य जब यह हरएक वस्त जलों

में ओत प्रोत (तनी बुनी) है, तब ये जल किसमें ओत प्रोत हैं' ? वायु में हे गार्गि ! तब वायु किस में ओत प्रोत है ? 'अन्तरिक्ष लोकों में हे गार्गि' ! 'तब अन्तरिक्ष लोक किस में ओत प्रोत हैं' ? 'गन्धर्व लोकों में हे गार्गि' ! 'तब गन्धर्वलोक किस में ओत प्रोत हैं ? आदित्य लोकों में हे गार्गि' ! 'तब आदित्यलोक किस में ओत प्रोत हैं' ? 'चन्द्रलोकों में हे गार्गि 'तब चन्द्रलोक किस में ओत प्रोत हैं' ? नक्षत्र लोकों में हे गार्गि' ! 'तब नक्षत्र लोक किस में ओत प्रोत हैं' ? देव लोकों में हे गार्गि' ! 'तब देवलोक किस में ओत प्रोत हैं' ? इन्द्रलोकों में हे गार्गि' ! 'तब इन्द्रलोक किस में ओत प्रोत हैं' ? 'प्रजापति (विराट्) लोकों में हे गार्गि' ! 'तब प्रजापति लोक किस में ओत प्रोत हैं' ? ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) लोकों में हे गार्गि' ! 'तब ब्रह्म लोक किस में ओत प्रोत हैं' ? 'उस ने कहा–' हे गार्गि ! अति प्रश्न मत कर, ऐसा न हो, कि तेरा सिर गिर जाए, जिस देवता के विषय में अति प्रश्न नहीं होना चाहिये, तू उसके विषय में अतिप्रश्न करती है, हे गार्गि ! अति प्रश्न मत कर * तब गार्गि वाचक्नवी चुप हो गई ॥ १ ॥

सातवां ब्राह्मण (अन्तर्यामि ब्राह्मण)

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ । याज्ञवल्क्येति

---

* जिस से आगे प्रश्न नहीं होना चाहिये, तू उस के विषय में आगे प्रश्न मत कर। जो बात अनुमान का विषय नहीं, केवल शास्त्र से जानने योग्य है, उस को अनुमान से मत पूछ (शंकराचार्य) ॥

होवाच—' मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञम-धीयानाः, तस्यासीद् भार्या गन्धर्वगृहीता, तम पृच्छाम 'कोऽसि' इति। सोऽब्रवीत्—'कबन्ध आथर्वणः' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च—' वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यः 'नाहं तद्भगवन्! वेद' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च 'वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमंच लोकं परं च लोकꣳसर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यः—' नाहं तद्भगवन्! वेद' इति। सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च। 'यो वै तत् काप्य सूत्रं विद्यात् तं चान्तर्यामिणमिति, स ब्रह्मवित्, सलोकवित्, स देववित्, स वेदवित्, स भूतवित्, स आत्मवित्, स सर्वविद्, इति। तेभ्योऽब्रवीत्। तदहं वेद। तच्चेत् त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे, मूर्धा ते विपतिष्यति' इति। 'वेद वा अहं गौतमतत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणम्' इति। 'यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद्, 'वेद वेद' इति। यथा वेत्थ तथा ब्रूहि' इति॥ १॥

अब इस को उद्दालक आरुणि (अरुण का पुत्र) पूछने लगा उस ने कहा-' हे याज्ञवल्क्य! हम मद्र देशों में पतञ्चल

काप्य के घर यज्ञ (की विद्या) पढ़ते हुए ठहरे। उसकी पत्नी गन्धर्व के वशीभूत थी, हमने उस को पूछा 'तू कौन है'? उस ने उत्तर दिया 'मैं कवन्ध आथर्वण (अथर्वा का पुत्र) हूं'। उस कवन्ध ने पतञ्चल काप्य को और याज्ञिकों को (अर्थात् हम को, जो पतञ्चल के शिष्य बन कर यज्ञ की विद्या पढ़ते थे) कहा-'क्या हे काप्य ! तू उस सूत्र को जानता है, जिस से यह लोक और दूसरा लोक और सारे भूत (प्राणधारी) गूंदे हुए होते हैं (जैसे सूत में मनके)'? पतञ्चल काप्य ने कहा-'भगवन् मैं उस को नहीं जानता हूं'? फिर उस ने पतञ्चल काप्य को और याज्ञिकों को कहा-'क्या तू हे काप्य ! उस अन्तर्यामी को जानता है, जो इस लोक और दूसरे लोक और सारे भूतों को अन्दर रह कर नियम में रखता है,।' पतञ्चल काप्य ने कहा-'भगवन् मैं उस को नहीं जानता हूं'? फिर उस ने पतञ्चल काप्य को और याज्ञियों को कहा-'हे काप्य ! जो उस सूत्र को और अन्तर्यामी को जान ले, वह ब्रह्म का जानने वाला है, वह लोकों का जानने वाला है, वह देवताओं का जानने वाला है, वह वेदों का जानने वाला है, वह भूतों (प्राणधारियों) का जानने वाला है, वह आत्मा का जानने वाला है, वह सब का जानने वाला है। तब स्वयं उस (गन्धर्व) ने उन को जो बतलाया, वह मैं जानता हूं, सो हे याज्ञवल्क्य ! यदि तू इस सूत्र और अन्तर्यामी को जाने विना ब्रह्मा की गौओं को (गौएं जो उस की भेंट की गई हैं, जो सब से बढ़ कर वेदों का जानने वाला है) हांकता है, तो तेरा सिर गिर जाएगा'। (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'मैं जानता हूं हे गौतम ! (गौतम

गोत्र वाले) उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को ’। (उद्दालक ने कहा) यह जो कोई भी (=हरएक) कह सकता है, ‘ मैं जानता हूं, मैं जानता हूं ’। (यदि तू जानता है तो) जैसे तू जानता है, वैसे कहो * ॥ १ ॥

स होवाच–‘ वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति, तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुः ‘ व्यस्र ऽ्ँ सिषतास्याङ्गानीति, वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति ’ इति । ‘ एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य अन्तर्यामिणं ब्रूहि’ इति ॥ २ ॥

उस ने कहा–‘ हे गौतम ! वायु वह सूत्र है, वायु जो सूत्र है, उस से हे गौतम ! यह लोक और दूसरा लोक और सारे भूत गूंदे हुए हैं, इस लिए हे गौतम ! जब कोई पुरुष मरता है, तो कहते हैं । इस के अंग गिर गए हैं (ढीले पड़ गए हैं) (जैसे तागे के निकल जाने से मनके गिर जाते हैं)। क्योंकि वायु जो सूत्र है, उससे हे गौतम ! गूंदे हुए होते हैं’। ‘ यह तो ऐसे ही है (ठीक है) हे याज्ञवल्क्य ! अब अन्तर्यामी को कहो ’? ॥ २ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न

---

* यहां सूत्र से सूक्ष्म प्रकृति और अन्तर्यामी से तदन्तर्गत परमात्मा अभिप्रेत है ।

वेद यस्य पृथिवी शरीरम् । यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अलग * है; जिस को पृथिवी नहीं जानती, जिस का पृथिवी शरीर † है जो पृथिवी को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरः, यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं। योऽपोऽन्तरो यमयति, एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥ योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः, यमग्निर्नवेद यस्याग्निः शरीरं, योऽग्निमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

जो जलों रहता हुआ, जलों से अलग है, जिस को जल नहीं जानते, जिस का जल शरीर हैं, जो जलों को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ४ ॥ जो अग्नि में रहकर अग्नि से अलग है, जिस को अग्नि नहीं जानती, जिस का अग्नि शरीर है, जो अग्नि को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ५ ॥

---

* पृथिवी के अभ्यन्तर है (शङ्कराचार्य) ; पर यहां 'पृथिव्याः, यह पञ्चमी विभक्ति है, पञ्चमी के अनुसार पृथिवी से अलग, अर्थ ही ठीक है ॥

† जैसे हमारा यह शरीर है, हम इस के नियन्ता हैं, इसी प्रकार पृथिवी का नियन्ता परमात्मा है ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरः, यमन्तरिक्षं न वेद, यस्यान्तरिक्षꣳशरीरं । योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥ यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरः, यं वायुर्नवेद, यस्य वायुः शरीरं, यो वायुमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥७॥ यो दिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरः, यं द्यौर्नवेद यस्य द्यौः शरीरं । यो दिवमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

जो अन्तरिक्ष में रह कर अन्तरिक्ष से अलग है, जिस को अन्तरिक्ष नहीं जानता, जिस का अन्तरिक्ष शरीर है। जो अन्तरिक्ष को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥ जो वायु में रह कर वायु से अलग है, जिस को वायु नहीं जानता, वायु जिस का शरीर है। जो वायु को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥७॥ जो द्यौ में रहकर द्यौ से अलग है। जिस को द्यौ नहीं जानता, जिस का द्यौ शरीर है। जो द्यौ को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः, यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं । य आदित्यमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

जो सूर्य में रह कर सूर्य से अलग है, जिस को सूर्य

नहीं जानता, जिसका सूर्य शरीर है। जो सूर्य को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्दर्यामी अमृत है॥९॥

यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरः, यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं। यो दिशोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥ १० ॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरः, यं चन्द्रतारकं न वेद, यस्य चन्द्रतारकं शरीरं। यो चन्द्रतारकमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥ ११ ॥ य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरः, यमाकाशो न वेद, यस्याकाशः शरीरं। य आकाशमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥ १२ ॥ यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरः, यं तमो न वेद, यस्य तमः शरीरं। यस्तमोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥१३॥

जो दिशाओं में रह कर दिशाओं से अलग है, जिस को दिशाएं नहीं जानतीं, दिशाएं जिस का शरीर हैं। जो दिशाओं को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १० ॥ जो चन्द्र तारा में रह कर चन्द्र तारों से अलग है, जिस को चन्द्र तारे नहीं जानते, जिस का चन्द्र तारे शरीर हैं। जो चन्द्र तारों को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ ११ ॥ जो आकाश में रह कर आकाश से अलग है, जिस को आकाश नहीं जानता, जिस का आकाश शरीर है। जो आकाश को

अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १२ ॥ जो अन्धेरे में रह कर अन्धेरे से अलग है, जिस को अन्धेरा नहीं जानता, जिस का अन्धेरा शरीर है। जो अन्धेरे को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरः, यं तेजो न वेद, यस्य तेजः शरीरं । यस्तेजोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, इत्यधिदैवतम्, अथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

जो तेज में रहकर तेज से अलग है, जिस को तेज नहीं जानता, जिस का तेज शरीर है। जो तेज को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह उस की देवताओं में (अन्तर्यामिता) है, अब प्राणधारियों में बतलाते हैं ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः, यꣳसर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं । यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, इत्यधिभूतम्, अथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

जो सारे भूतों (प्राणधारियों) में रह कर सारे भूतों से अलग है, जिस को सारे भूत नहीं जानते, जिस का सारे भूत शरीर हैं, जो सब भूतों को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, यह उस की प्राणधारियों में (अन्तर्यामिता) है, अब शरीर में (अन्तर्यामिता) बतलाते हैं ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरः, यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं । यः प्राणमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥ यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरः, यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं । यो वाचमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १७॥ यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरः, यं चक्षुर्नवेद, यस्य चक्षुः शरीरं । यश्चक्षुरन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥ यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्दरः, यꣳश्रोत्रं न वेद, यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं । यः श्रोत्रमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

जो प्राण में रह कर प्राण से अलग है, जिस को प्राण नहीं जानता, जिस का प्राण शरीर है । जो प्राण को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १६ ॥ जो वाणी में रह कर वाणी से अलग है, जिस को वाणी नहीं जानती, जिस का वाणी शरीर है । जो वाणी को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १७ ॥ जो नेत्र में रह कर नेत्र से अलग है, जिस को नेत्र नहीं जानता, जिस का नेत्र शरीर है । जो नेत्र को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥१८॥ जो श्रोत्र में रह कर श्रोत्र से अलग है, जिस को श्रोत्र नहीं जानता, जिस का श्रोत्र शरीर है । जो श्रोत्र को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥

यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरः, यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरं । यो मनोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २० ॥

जो मन में रह कर मन से अलग है, जिस को मन नहीं जानता, जिस का मन शरीर है । जो मन को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरः, यं त्वङ्न वेद, यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः, यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरं । यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

जो त्वचा में रहकर त्वचा से अलग है, जिसको त्वचा नहीं जानती, जिस का त्वचा शरीर है । जो त्वचा को अन्दर रहकर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥ जो आत्मा * में रहकर आत्मा से अलग है, जिस को आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है । जो आत्मा को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥

---

* हमने यहां विज्ञान का अर्थ आत्मा लिया है । क्योंकि माध्यन्दिन पाठ में 'विज्ञाने' की जगह 'आत्मनि' आया है और ब्रह्म सूत्र १ । २ । २० में वेद व्यास ने और उस के भाष्य में स्वामि शंकराचार्य ने भी माध्यन्दिन पाठ के सहारे पर यही अर्थ ठीक माना है ।

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरः, यं रेतो न वेद, यस्य रेतः शरीरं । यो रेतोऽन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता, ऽमतो मन्तो, ऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, अतोऽन्यदार्तम् । ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

जो बीज में रह कर बीज से अलग है, जिस को बीज नहीं जानता, जिस का बीज शरीर है । जो बीज को अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, जो देखा नहीं जाता, और देखने वाला है, जो सुना नहीं जाता, और सुनने वाला है, जो ख्याल में नहीं आता, और ख्याल करने वाला है, जो जाना नहीं जाता, और जानने वाला है । इस से बढ़ कर कोई देखने वाला नहीं, इस से बढ कर कोई सुनने वाला नहीं, इससे बढ़कर कोई ख्याल करने वाला नहीं, इस से बढ़ कर कोई जानने वाला नहीं, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इस से भिन्न सब दुःखिया है । तब उद्दालक आरुणि चुप हो गया ॥ २३ ॥

आठवां ब्राह्मण (गार्गी ब्राह्मण)

सं०—गार्गी पहले चुप हो चुकी है, अब अन्तर्यामी का निर्णय सुन कर उस के शुद्ध स्वरूप की जिज्ञासा से फिर प्रश्न आरम्भ करती है—

अथ ह वाचक्नव्युवाच–'ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताह-मिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि । तौ चेन्मे वक्ष्यति, न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेता' इति । 'पृच्छ गार्गि' इति ॥ १ ॥

* अब वाचक्नवी (गार्गी) कहने लगी–'भगवन् ब्राह्मणो! हां मैं इस को दो प्रश्न पूछूंगी, यदि उन दोनों को मुझे कह देगा, (दोनों का उत्तर दे देगा) तो तुम में से कोई भी कदापि इस ब्रह्मवेत्ता को नहीं जीतने वाला होगा' (उन्हों ने कहा) 'पूछ हे गार्गि'! ॥ १ ॥

सा होवाच–'अहंवै याज्ञवल्क्य काश्यो वा वैदेहो वोग्र-पुत्रउज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्या-धिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेद्, एवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्ना-भ्यामुपोदस्थां, तौ मे ब्रूहि' इति । 'पृच्छ गार्गि' इति ॥२॥

उस ने कहा–'हे याज्ञवल्क्य! जैसे कोई काशी (देश) का वा विदेह (देश) का उग्रपुत्र (तेजस्वी शूरबीर का पुत्र, अर्थात् शूरबीर वंश में उत्पन्न हुआ) अपने उतरे हुए चिल्ले (गोशे, रस्सी) वाले, धनुष में चिल्ला चढ़ा कर, और शत्रुओं को पूरा २ बींधने वाले, नोकों वाले दो बाण हाथ में लेकर सामने खड़ा हो जाए, ठीक इसी तरह मैं दो प्रश्नों से तेरे सामने

---

* गार्गी पहले याज्ञवल्क्य के रोकने पर सिर के गिर जाने के डर से चुप हो गई थी, अब फिर पूछने के लिए ब्राह्मणों से अनुज्ञा मांगती है (शंकराचार्य्य)।

खड़ी हुई हूं, उन दोनों को मुझे बतला'। (याज्ञवल्क्य ने कहा) 'पूछ हे गार्गि! ॥ २ ॥

सा होवाच—'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवः, यदवाक् पृथिव्याः, यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं च' इति ॥ ३ ॥

उस ने कहा-'हे याज्ञवल्क्य! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी के नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के मध्य में है, और जिस को हो चुका, होता हुआ और होगा, ऐसा कहते हैं। वह किस में ओत प्रोत है * ॥ ३ ॥

सा होवाच—'यदूर्ध्वं गार्गि! दिवः, यदवाक् पृथिव्याः, यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, आकाशे तदोतं च प्रोतं च' इति ॥ ४ ॥

उसने कहा-'हे गार्गि! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के बीच में है, जिस को हो चुका; होता हुआ, और होगा ऐसा कहते हैं, वह आकाश में ओत है और प्रोत है ॥ ४ ॥

सा होवाच—'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य! यो म एतं व्यवोचः, अपरस्मै धारयस्व' इति। 'पृच्छ गार्गि' इति ॥ ५ ॥

---

* उद्दालक के उत्तर में कहा है, कि वायु जो सूत्र है, सब कुछ उसी में ओत प्रोत है। अब वह सूत्र जो द्यौ और पृथिवी के अन्दर और वार पार फैल रहा है, वह किस में ओत प्रोत है, यह गार्गी का प्रश्न है (शंकराचार्य्य) ॥

उस ने कहा-'याज्ञवल्क्य ! तुझे नमस्कार हो, जिस ने मेरे इस प्रश्न की विवेचना करदी है, अब दूसरे के लिये तय्यार हो' 'पूछ हे गार्गि'! ॥ ५ ॥

सा होवाच-'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवः, यदवाक् पृथिव्याः यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं च' इति ॥ ६ ॥

उस ने कहा-'हे याज्ञवल्क्य ! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के मध्य में है, जिस को हो चुका, होता हुआ और होगा, ऐसा कहते हैं, वह किस में ओत और प्रोत है * ॥ ६ ॥

स होवाच-'यदूर्ध्वं गार्गि ! दिवः, यदवाक् पृथिव्याः यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इति । कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति ॥ ७ ॥

उस ने कहा-'हे गार्गि! जो द्यौ से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो इस द्यौ और पृथिवी के मध्य में है, जिस को हो चुका, होता हुआ और होगा, ऐसा कहते हैं, वह आकाश में ही ओत और प्रोत है'। (गार्गी ने कहा) वह आकाश किस में ओत और प्रोत है ? ॥ ७ ॥

---

* पहले प्रश्न से इस प्रश्न में कोई भेद नहीं है, किन्तु जो इस का उत्तर दिया है, उस पर एक नया प्रश्न उठाने के लिए फिर वही प्रश्न किया है ।

स होवाच–' एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ मलोहित मस्नेहमच्छाय मतमोऽवाय्व नाकाश मसङ्गमरस मगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्क मप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं, न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन । ८ ॥

उस ने कहा–'हे गार्गि ! इस को ब्राह्मण (ब्रह्म के जानने वाले) अक्षर (अविनाशि, कूटस्थ) कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है न लम्बा है, न (अग्नि की नाईं) लाल है; बिना स्नेह के है, बिना छाया के है, बिना अन्धेरे के है, न वायु है, न आकाश है, वह असङ्ग * है, रस रहित है, गन्ध रहित है, उस के नेत्र नहीं, उस के कान नहीं, उस के बाणी नहीं, उस के मन नहीं, उस के तेज नहीं, उस के प्राण नहीं, उस के मुख नहीं, उस की मात्रा (परिमाण) नहीं उस के कुछ अन्दर नहीं, उस के कुछ बाहर नहीं । न वह किसी को भोगता है, न कोई उस को भोगता है ॥ ८ ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! निमेषा मुहूर्ता रात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि !

* किसी से जुड़ा हुआ नहीं, जैसे गूंद से जुड़ा हुआ होता है ॥

प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः, प्रतीच्योऽन्याः, यां यां च दिशमनु, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति, यजमानं देवाः, दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

इसी अक्षर के प्रशासन (ज़बरदस्त हुक्म) में हे गार्गि ! सूर्य और चांद * मर्यादा में खड़े हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि ! द्यौ और पृथिवी मर्यादा में खड़े हैं, इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि ! पलक मुहूर्त, दिन रात, आधे महीने (पक्ष) महीने, ऋतु और बरस अपनी २ मर्यादा में स्थित हैं इसी अक्षर के प्रशासन में हे गार्गि ! कई नदियां पूर्व की ओर बहती हैं, सुफेद पर्वतों से निकल कर, दूसरी पश्चिम की ओर बहती हैं। चाहे जिस किसी दिशा में बहती हैं, इसी के शासन में बहती हैं । इसी के शासन में हे गार्गि ! दानियों की लोग प्रशंसा करते हैं । देवता यजमान के अनुगत होते हैं, और

---

* दीपक से अन्धेरा दूर होता है, जो यह जानता है, वह अन्धेरा दूर करने और प्रकाश में कार्य करने के लिये दीपक जलाता है, इसी प्रकार सूर्य चांद जो दिन रात के दो दीपक हैं, ये सारी दुनियां का अन्धेरा दूर करने और कार्य करने में प्रकाश देने के लिये जिसने जलाए हैं और जिस के नियम में स्थिर रहते हैं, वह परमात्मा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था एक प्रशासक (हाकिम) के अधीन है, जैसे राज्य की व्यवस्था राजा के अधीन होती है ॥

पितर-दर्वीहोम * के अनुगत होते हैं ॥ ९ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति । यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि ! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

जो इस अक्षर को जाने बिना हे गार्गि ! इस लोक में होम करता है, यज्ञ करता है, वा तप तपता है, वह चाहे इस का अनेक हजारों बरस भी हो, अन्त वाला ही है । जो इस अक्षर को जाने बिना हे गार्गि ! इस दुनिया से चलता है, वह कृपण (दया का पात्र) है, और जो इस अक्षर को जान कर हे गार्गि ! इस दुनिया से चलता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ । नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ, नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति मन्तृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ । एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च ' इति ॥ ११ ॥

यही अक्षर हे गार्गि ! स्वयं अदृष्ट हुआ देखने वाला है, अश्रुत हुआ सुनने वाला है, अमत हुआ मानने वाला है, अज्ञात हुआ जानने वाला है । इस से बढ़ कर कोई देखने वाला नहीं,

---

* जो न किसी की प्रकृति हो, न विकृति हो, वह दर्वी होम है । (आनन्द गिरि) ॥

इस से बढ़ कर कोई सुनने वाला नहीं, इस से बढ़ कर कोई मनन करने वाला नहीं, इस से बढ़ कर कोई जानने वाला नहीं। यह वह अक्षर है जिस में, हे गार्गि! आकाश ओत और प्रोत है (यही परम ब्रह्म है। इस को पाकर ही मनुष्य कृत-कृत्य हो जाता है)॥ ११॥

सा होवाच—'ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं, यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं। न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्-ब्रह्मोद्यं जेता' इति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम॥ १२॥

तब वह (गार्गी) बोली-पूजनीय ब्राह्मणो! यही बहुत समझो, जो इस से नमस्कार करके छूट जाओ। तुम में से कोई भी इस ब्रह्मवादी को कदापि नहीं जीतेगा। तब वाचक्नवी चुप हो गई॥ १२॥

नवां ब्राह्मण (शाकल्य ब्राह्मण)

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ 'कति देवा याज्ञ-वल्क्य' इति? स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे, यावन्तो वैश्व-देवस्य निविद्युच्यन्ते 'त्रयश्च त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति। ओमिति होवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति? 'त्रयस्त्रिꣳशद्' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति? 'षड्' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति? 'त्रयः' इति। ओमितिहोवाच। 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति? 'द्वौ' इति। ओमिति

होवाच । 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'अध्यर्ध' इति । ओमिति होवाच । 'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य' इति ? 'एकः' इति । ओमिति होवाच । 'कतमे ते त्रयश्च त्रीच शता त्रयश्च त्रीच सहस्रा' इति ॥ १ ॥

* अब उस को विदग्ध शाकल्य (शकल का पुत्र) पूछने लगा 'कितने देवता हैं हे याज्ञवल्क्य' ! उस (याज्ञवल्क्य) ने इसी निविद् से निश्चय किया, जितने वैश्वदेव (शस्त्र) की निविद् † में कहे गए हैं अर्थात् तीन और तीन सौ तीन (३०३) और तीन हजार तीन (३००३), उस ने कहा हां (ठीक हैं)। (फिर पूछा) कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ' ? ' तेतीस '। उस ने कहा हां (और फिर पूछा) कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ? ' छः ' उस ने कहा हां (और फिर पूछा) ' कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ' ? 'तीन' उस ने कहा हां (और फिर पूछा) ' कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ' ? 'दो' । उस ने कहा ' हां ' (और फिर पूछा) ' कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ' ? ' अध्यर्ध (डेढ़) ' उस ने कहा हां (और फिर पूछा) ' कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ' ? ' एक ' उस ने कहा हां । (अच्छा

---

* पूर्व जिस अविनाशी परब्रह्म की सर्वत्र अन्तर्यामिता दिखलाई है, उसी का शुद्ध स्वरूप गार्गी के द्वितीय प्रश्न के उत्तर में दिखलाया है । अब उसी के व्यष्टि स्वरूप को शाकल्य के उत्तर में दिखलाते हैं ।

† निविद्=देवताओं की संख्या के कहने वाले कई एक मन्त्र पद जो वैश्वदेव शस्त्र में कहे जाते हैं (शंकराचार्य) ॥

तो वे) 'तीन और तीन सौ और तीन और तीन हजार कौन से हैं' ॥ १ ॥

स होवाच—'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवाः' इति । 'कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशद्' इति । 'अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशद्, इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशौ' इति ॥ २ ॥

उस ने कहा 'ये (३०३ और ३००३) इन (तेतीस) की ही विभूतियें हैं, वस्तुतः तेतीस ही देवता हैं। 'कौन से वे तेतीस हैं' आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, और बारह आदित्य हैं, और इन्द्र और प्रजापति तेतीसवें हैं ॥ २ ॥

'कतमे वसवः' इति । 'अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः, एतेषु हीदꣳसर्वꣳहितमिति तस्माद्वसव' इति ॥ ३ ॥

'वसु कौन से हैं' (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष आदित्य और द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये वसु हैं । क्योंकि हरएक वस्तु इन्हीं में रक्खी हुई है, इस लिए वसु हैं * ॥ ३ ॥

* तीनों देवता और तीनों लोक और चन्द्र और नक्षत्र ये आठ वसु इस लिए हैं, कि प्राणियों के कर्मों का फल इन के आश्रय मिलता है, उन के शरीर इन्द्रिय इन्हीं से बनते हैं, और इन्हीं में वह फल भोगते हैं। इस तरह पर सारे प्राणियों के निवास का हेतु हैं, इस लिए वसु हैं ॥

'कतमे रुद्रा' इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति,तद् यद्रोदयन्ति, तस्माद्रुद्राः' इति ॥ ४ ॥

'कौन से रुद्र हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) ये जो पुरुष में दस प्राण हैं, (अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय) और ग्यारहवां मन है। वे जब (मरने के समय) इस मरने वाले शरीर से निकलते हैं, तब (उन के सम्बन्धियों को) रुलाते हैं, सो जिस लिये रुलाते हैं, (रोदयन्ति) इस लिए रुद्र हैं ॥ ४ ॥

'कतमे आदित्याः' इति। 'द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः। एते हीद्ं सर्वमाददाना यन्ति, ते यत्सर्वमाददाना यन्ति, तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

'कौन से आदित्य हैं' बरस के बारह महीने आदित्य हैं। क्योंकि हरएक वस्तु को (मनुष्यों की आयु और उन के कर्मों के फलों को) लेते हुए जाते हैं, जिस लिये लेते हुए जाते हैं, (आददाना यन्ति) इस लिए आदित्य हैं ॥ ५ ॥

'कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिः' इति? 'स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिः' इति। 'कतमः स्तनयित्नुः' इति? 'अशनिः' इति। कतमो यज्ञः' इति? 'पशवः' इति ॥६॥ 'कतमे षड्' इति? 'अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षड्, एते हीद्ं सर्वं षड्' इति ७

'कौन इन्द्र है और कौन प्रजापति है'? 'कड़कने वाला ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है'? 'कौन कड़कने वाला है'? 'बिजली'? 'कौन यज्ञ है'? (यज्ञिय) 'पशु' * ॥ ६ ॥ 'कौन छः (देवता) हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) अग्नि और पृथिवी, वायु और अन्तरिक्ष, सूर्य और द्यौ, ये छः हैं। क्योंकि सब कुछ यह छः हैं † ॥ ७ ॥

'कतमे ते त्रयो देवाः' इति ? 'इमे एव त्रयो लोकाः, एषु हीमे सर्वे देवाः' इति। 'कतमौ तौ द्वौ देवौ' इति ? 'अन्नं चैव प्राणश्च' इति। 'कतमोऽध्यर्धः' इति ? 'योऽयं पवते' इति ॥ ८ ॥

'कौन वे तीन देवता हैं'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'यही तीनों लोक, क्योंकि इन्हीं (तीनों) में ये सारे देवता हैं'। कौन वे दो देवता हैं'? 'अन्न और प्राण' ‡। 'कौन

* यज्ञ अमूर्त है, उस का अपना रूप कोई नहीं, इस लिए यज्ञ के साधनों को ही यज्ञ का रूप बतलाया है, अर्थात् पशु यज्ञ के साधन हैं, इस लिए उन को यज्ञ रूप कहा है (शंकराचार्य्य) ॥

† तीन लोक और उन के तीन देवता, इन्हीं छः के अन्दर सब कुछ आ जाता है, शेष सारे ३३ देवता इन्हीं का अवान्तर रूप हैं ॥

‡ जीवन प्राण है, और उस की स्थिति के लिये जो कुछ है, वह सब अन्न है, इस सृष्टि में हरएक वस्तु या तो जीवन रखने वाली है, या जीवधारी के लिए बनी है ॥

अध्यर्ध (डेढ़ देवता) है' 'जो यह बहता है' (अर्थात् वायु) ॥८॥

तदाहुः—'यदयमेक इवैव पवते, अथ कथमध्यर्धः,इति ? 'यदस्मिन्निदꣳसर्वमध्यार्ध्नोत्, तेनाध्यर्धः' इति। 'कतम एको देवः' इति ? 'प्राण' इति। स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९॥

इस पर कहते हैं, (आक्षेप करते हैं) 'कि जब यह (वायु) एक ही बहता है, तो यह अध्यर्ध (डेढ़) कैसे ? (उत्तर यह है) कि जिस लिये वायु में यह हरएक वस्तु उगी और बढ़ी है इस लिए अध्यर्ध * है'। 'कौन सा एक देवता है'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'प्राण' (सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ) है, और उस को वह (त्यद्) ब्रह्म कहते हैं† ॥९॥

---

* अर्थात् यहां अध्यर्ध डेढ़ के अर्थ में नहीं, किन्तु अध्यार्ध्नोत्=उगी बढ़ी के अर्थ में है ॥

† देवताओं का एकत्व और नानात्व इस प्रकार है। कि एक ही परब्रह्म परम देव है, वह अपने शुद्ध स्वरूप में 'न तद्-श्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' है (देखो बृ० उ० ३।८।८) और वह शबलरूप में अपनी विविध रचनाओं में विविध शक्तियों से प्रकाशित हो रहा है 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इस प्रकार अनन्तरूपों में उस की अनन्त शक्तियें प्रकाशित हो रही हैं। वही सारे उसके शबलरूप जो उस की दिव्य शक्तियों को प्रकाशित करते हैं, देवता हैं, वे अनगिनत हैं, तथापि उन सब का इन में अन्तर्भाव हो जाता है, जो संख्या उन की वैश्वदेव निविद् में कही है और फिर उन का भी तेतीस आदि में अन्तर्भाव होते हुए अन्त में एक ही सूत्रात्मा में उन का अन्त-

संगति—जिस ब्रह्म का वर्णन पूर्व देवताओं के रूप (शबल रूप) में है, उसी का वर्णन अब दूसरी रीति पर कहते है :—

पृथिव्येव यस्यायतन मग्निर्लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषꣳसर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ। य एवायं शारीरः पुरुषः स एषः'। 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। अमृतमिति होवाच ॥१०॥

(शाकल्य ने कहा *) पृथिवी ही जिस का शरीर है,

भाव है। सूत्रात्मा सारे देवताओं की समष्टि है। इस का सविस्तर वर्णन वेदोपदेश प्रथम भाग में लिख दिया है॥

* यहां भी शाकल्य और याज्ञवल्क्य का ही सम्वाद है। और इन में से प्रश्न कर्ता शाकल्य है और उत्तर दाता याज्ञवल्क्य है, इस लिए यहां प्रश्न का हिस्सा शाकल्य के साथ सम्बद्ध किया गया है, उस के पीछे 'वेद वा...स एषः' यह वचन याज्ञवल्क्य का है, क्योंकि यह प्रश्न के उत्तर में कहा है, अब शाकल्य के प्रश्न का उत्तर देकर अपनी वारी में याज्ञवल्क्य स्वयं उस पर प्रश्न करता है 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता' शाकल्य का उत्तर यह है 'अमृतम्'। जब याज्ञवल्क्य ने शाकल्य के प्रश्नों का उत्तर दे दिया, तो उस का भी हक है, कि उस पर प्रश्न करे। सो याज्ञवल्क्य ने उस से अधिक कठिन प्रश्न किया है। स्वामि शंकराचार्य यहां याज्ञवल्क्य को प्रश्न करने वाला कहीं नहीं मानते, और इस लिए वे 'वदैव शाकल्य'

अग्नि लोक (=दृष्टि) है और मन ज्योति है, जो उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला (विद्वान्) है हे याज्ञवल्क्य ! (याज्ञवल्क्य ने कहा) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को वह यह है जो यह शरीर में पुरुष है। पर कहो शाकल्य उस का देवता * कौन है। उस ने कहा अमृत है † ॥

इतना ही याज्ञवल्क्य का वचन मानते हैं और फिर इस ख्याल से कि वक्ता तो याज्ञवल्क्य ही है, वह प्रष्टा (पूछने वाले, शाकल्य) को 'वद' कैसे कह सकता है, इस लिए 'वदैव' की बावत लिखते हैं, 'पृच्छेवेत्यर्थः' और इस के पीछे 'तस्य का देवता' यह शाकल्य का प्रश्न और 'अमृतम्' यह याज्ञवल्क्य का उत्तर बतलाते हैं। सो यह असन्दिग्ध निर्णय करना कि कितना पाठ किसने कहा है, कठिन है। इन खण्डों में यदि याज्ञवल्क्य को ही प्रश्न करने वाला मान लिया जाए, तो यह खण्ड इस तरह संगत हो सकते हैं। कि 'पृथिव्येव...स्यात्' यह याज्ञवल्क्य का प्रश्न, 'याज्ञवल्क्य...स एषः' यह शाकल्य का उत्तर। फिर 'वदैव...देवता' याज्ञवल्क्य का प्रश्न और 'अमृतम्' यह शाकल्य का उत्तर होगा। पर शाकल्य का प्रश्न कर्ता होना ही अधिक सम्भव है।

* इस प्रकरण में देवता से अभिप्राय है जिस से जिस की उत्पत्ति होती है (जैसे अन्न से शरीर की) वह उस का देवता है। (शंकराचार्य्य)

† अमृत=खाए हुए अन्न का रस, जिस से रज उत्पन्न होता है, और जो बीज के आश्रय जीवन का हेतु बनता है (शंकरा०)

'काम एव यस्यायतनꣳहृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य'? वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवायं काममयः पुरुषः स एषः'। 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति? 'स्त्रियः' इति होवाच ॥ ११ ॥

(शाकल्य ने कहा) काम जिस का शरीर है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को। वह यह है जो यह काममय पुरुष है। पर कहो, हे शाकल्य! उस का देवता कौन है? उस ने कहा 'स्त्रियें' * ॥ ११ ॥

'रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवासावादित्ये पुरुषः स एषः। वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

रूप ही जिस का शरीर है, आंख लोक है, मन ज्योति है, जो उस हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान

* स्त्रियों से ही काम की दीप्ति होती है (शंकराचार्य)

सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जिस के विषय में तू मुझे कहता है, वह यह है, जो यह सूर्य में पुरुष है, कहो हे शाकल्य ! उस का देवता कौन है ? उस ने कहा 'सत्य' * ॥ १२ ॥

'आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवायं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एषः, वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। 'दिशः' इति होवाच ॥ १३ ॥

(शाकल्य ने कहा) आकाश ही जिस का शरीर है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो उस, हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके। वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य ! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिस के विषय में तू मुझे कहता है । वह यह है, जो यह सुनने वाला और उत्तर देने वाला † पुरुष है। पर कहो शाकल्य उस का देवता कौन है, (शाकल्य ने उत्तर दिया) दिशाएं ॥ १३ ॥

---

* सत्य=आंख क्योंकि आंख से सूर्य की उत्पत्ति है, "चक्षोःसूर्योऽजायत" (शंकराचार्य) ॥

† देखो बृह० उप० २। ५। ६ ॥

'तम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं, य एवायं छायामयः पुरुषः स एषः, वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति । 'मृत्युः' इति होवाच ॥ १४ ॥

(शाकल्य ने कहा) 'अन्धेरा जिस का शरीर है हृदय लोक है और मन ज्योति है 'जो उस, हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जानता हूं मैं उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिस के विषय में तू कहता है, वह यह है जो यह छायामय * पुरुष है । कहो शाकल्य उस का देवता कौन है'। उस ने कहा 'मृत्यु' ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षु र्लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य । वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एषः । वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति । 'असुः' 'इति होवाच' ॥ १५ ॥

(प्रकाशक) रूप † ही जिस का शरीर हैं, आंख लोक

---

* छायामय=अज्ञानमय (शंकराचार्य) ॥

† १२ वें खण्ड में रूप सामान्य कहे हैं और यहां उन रूपों से अभिप्राय है जो चमकने वाले हैं ।

है और मन ज्योति है, जो उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जानता है, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य ! (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिस के विषय में तू कहता है वह यही है जो यह शीशे में * पुरुष है । कहो शाकल्य उस का देवता कौन है (शाकल्य ने उत्तर दिया) प्राण † ॥ १५ ॥

'आप एव यस्यायतनꣳहृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषꣳसर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवायमप्सु पुरुषः स एषः। 'वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति 'वरुणः' इति होवाच ॥ १६ ॥

(शाकल्य ने कहा) जल जिस का शरीर है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो उस, हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जान सके, वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) 'जानता हूं मैं उस हरएक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को' जिस के विषय में तू कहता है।

---

* शीशे का रूप इतना स्वच्छ है, कि उस में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

† प्राण (बल) से शीशे आदि को घिसे, तो उस का रूप अधिक चमकता है, जो प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के अधिक योग्य बन जाता है, इस तरह पर प्राण प्रतिबिम्ब का कारण है वह देवता है (आनन्दगिरि)

वह यह है जो यह जलों में पुरुष है।' कहो शाकल्य उस का देवता कौन है'। उस ने कहा 'वरुण'॥ १६॥

'रेत एव यस्यायतनꣳहृदयं लोको मनो ज्योतिः, यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणꣳस वै वेदिता स्याद् याज्ञवल्क्य'। 'वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ, य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एषः। वदैव शाकल्य तस्य का देवता' इति। 'प्रजापतिः' इति होवाच॥१७॥

बीज ही जिस का शरीर है हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो उस हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को जानता है वह जानने वाला है, हे याज्ञवल्क्य'? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया) जानता हूं मैं उस हर एक आत्मा के परम आश्रय पुरुष को, जिस के विषय में तू कहता है। वह यह है जो यह पुत्रमय पुरुष है। अब कहो, शाकल्य उस का देवता कौन है? उस ने कहा प्रजापति॥ १७॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अंगारावक्षयणमक्रता३ इति'॥ १८॥

याज्ञवल्क्य ने कहा–'हे शाकल्य तुझे इन ब्राह्मणों ने (जो आप वाद में आने से झिजकते हैं) संडासी * बनाया है॥ १८॥

---

* अङ्गारावक्षयणं=जिस से (आग के) अङ्गारे परे हटाए जाते हैं अर्थात् संडासी। अव पूर्वक क्षी धातु का अर्थ परे हटाना है अभिप्राय यह है कि आग में से दधकता हुआ अङ्गारा

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यः-'यदिदं कुरु पाञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वान्' इति ? 'दिशो वेद स देवाः स प्रतिष्ठाः' इति । 'यद्दिशो वेत्थ स देवाः स प्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

शाकल्य ने कहा-'हे याज्ञवल्क्य ! तूने जो यह कुरु पञ्चालों के ब्राह्मणों को उलांघ कर कहा है (कि आप डर कर तुझे इन्हों ने संडासी बनाया है) तूने किस * ब्रह्म को जानते हुए (इस तरह उन को झिड़का है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा) मैं दिशाओं को उनके देवताओं और उन की प्रतिष्ठाओं के साथ जानता हूं । (शाकल्य ने कहा) 'यदि तू दिशाओं को देवताओं और प्रतिष्ठाओं के साथ जानता है (तो कहो)† ॥१९॥

निकालने के लिये हाथ जलने के भय से संडासी को आगे कर देते हैं, इसी तरह तेरे साथी ब्राह्मणों ने एक ब्रह्मिष्ठ का क्रोधपात्र बनने से स्वयं डर कर तुझे आगे कर दिया है और तू अपने आप को दग्ध होता हुआ नहीं समझता ॥ माध्यन्दिन पाठ 'अङ्गारावक्षयणं' की जगह 'उल्मुकावक्षयणं' पाठ है उल्मुक जलती हुई लकड़ी को कहते हैं ।

* यहां 'किं' शब्द ब्रह्म का विशेषण लिया जाए, तो प्रश्न शबल ब्रह्म के विषय में हो सकता है और शबल ब्रह्म का ज्ञान ही आगे याज्ञवल्क्य ने स्वीकार किया है ।

† इन पांच कण्डिकाओं में बाह्य सृष्टि का हृदय से यथार्थ सम्बन्ध बोधन किया है । सूर्य आंख को प्रकाश देता

किं देवताऽस्यां प्राच्यां दिश्यसि' इति । 'आदित्य देवताः इति । स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति । 'चक्षुषि' इति । 'कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितम्' इति । 'रूपेषु' इति। चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति'। 'कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि' इति । 'हृदये' इति होवाच। हृदयेन हि रूपाणि जानाति, हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २० ॥

पूर्व दिशा में तेरा देवता कौन * है? 'सूर्य'। वह सूर्य किस में प्रतिष्ठित है (कायम) है? आंख में। आंख किस में प्रतिष्ठित है? 'रंगों में' 'क्योंकि आंख से वह रंगों को देखता है। रंग किस में प्रतिष्ठित हैं? उस ने कहा' हृदय † में, क्योंकि हृदय से रंगों को जानता है। हृदय में ही सारे रंग प्रतिष्ठित होते हैं ‡। (शाकल्य ने कहा) निःसन्देह यह ऐसे ही है हे याज्ञवल्क्य ॥

है, और आंख रूपों को दिखलाती है, और वे रूप जब आंख द्वारा हृदय में प्रवेश करते हैं, तब आत्मा उस दृश्य को देखता है।

* अक्षरार्थ पूर्व दिशा में तू किस देवता वाला है और इसी प्रकार 'आदित्य देवता' सूर्य देवता वाला । अक्षरार्थ 'यमदेवतः' इत्यादि में भी ऐसा ही है।

† मन और बुद्धि इन दोनों को इकट्ठा कहने के लिये 'हृदय' यह एक शब्द है (शंकराचार्य)।

‡ वासनारूप रंग हृदय में रहते हैं (शंकराचार्य)॥

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसि' इति। 'यमदेवतः' इति। 'स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति। 'यज्ञे' इति। 'कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठितः' इति ? 'दक्षिणायाम्' इति। कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता' इति ? 'श्रद्धायाम्' इति। यदा ह्येव श्रद्धत्ते, अथ दक्षिणां ददाति, श्रद्धायाᳫ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिता' इति। कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठिता' इति ? 'हृदये इति होवाच। हृदयेन हि श्रद्धां जानाति, हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवति' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २१ ॥

(शाकल्य ने कहा) 'दक्षिण दिशा में तेरा देवता कौन है'? 'यम'। 'यम किस में प्रतिष्ठित है'? 'यज्ञ में'। 'यज्ञ किस में प्रतिष्ठित है'? 'दक्षिणा में'। 'दक्षिणा किस में प्रतिष्ठित है' 'श्रद्धा में' क्योंकि जब मनुष्य श्रद्धा रखता है, तभी दक्षिणा देता है, सो दक्षिणा निःसन्देह श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। श्रद्धा किस में प्रतिष्ठित है'? उस ने कहा 'हृदय में' क्योंकि हृदय से ही श्रद्धा को जानता है, और इस लिए श्रद्धा हृदय में ही प्रतिष्ठित है। (शाकल्य ने कहा) 'निःसंदेह यह ऐसे ही है हे याज्ञवल्क्य! * ॥ २१ ॥

---

* धर्म्य कर्म के अनुष्ठान का बीज श्रद्धा है, और वह श्रद्धा हृदय में रहती है। जो यज्ञ ऋत्विजों से किया गया है, यजमान उन को दक्षिणा देकर उस यज्ञ को अपना बना लेता है, और तब वह उस यज्ञ से दक्षिणगति को जीतता है। वह

'किं देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसि' इति। वरुणदेवतः' इति। 'स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति? 'अप्सु' इति। कस्मिन् न्वापः प्रतिष्ठिताः' इति? 'रेतसि' इति। 'कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितम्' इति? 'हृदये' इति। तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुः-'हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मितः' इति। हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवति' इति। 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ २२ ॥

(शाकल्य ने कहा) इस पश्चिम दिशा में तेरा देवता कौन है? 'वरुण' 'वरुण किस में प्रतिष्ठित है'? 'जलों में'। 'जल किस में प्रतिष्ठित है'? 'बीज में' 'बीज किस में प्रतिष्ठित है'? 'हृदय में' 'इस लिए जो पुत्र पिता के सदृश उत्पन्न हुआ है उस के विषय में लोग कहते हैं, 'मानों यह हृदय से निकला है या हृदय से बनाया गया है' क्योंकि हृदय में ही बीज प्रतिष्ठित होता है'। (शाकल्य ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

'किं देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसि' इति? 'सोमदेवतः' इति। 'स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति? 'दीक्षायाम्' इति। 'कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता' इति? 'सत्ये' इति। तस्मादपि दीक्षितमाहुः-'सत्यं वद' इति। सत्ये ह्येव

दक्षिणा जिस के द्वारा यजमान ऋत्विजों से यज्ञ को मोल ले लेता है वह उसी धार्मिक श्रद्धा का फल है।

दीक्षा प्रतिष्ठिता ' इति । ' कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितम् ' इति ? ' हृदये ' इति होवाच । हृदयेन हि सत्यं जानाति, हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवति ' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ' ॥ २३ ॥

(शाकल्य ने कहा) ' उत्तर दिशा में तेरा देवता कौन है ' ? सोम ' । ' वह सोम किस में प्रतिष्ठित है ' ? ' दीक्षा * में ' । ' दीक्षा किस में प्रतिष्ठित है ' ? ' सचाई में ' । इसी लिए जिस ने दीक्षा ली हो, उस को कहते हैं ' सच कहो ' क्योंकि सचाई में ही दीक्षा प्रतिष्ठित है । ' सचाई किस में प्रतिष्ठित है ' ? उस ने कहा ' हृदय में ' ' क्योंकि हृदय से ही सचाई को जानता है, और सचाई हृदय में ही रहती है ' । ' ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य † ॥ २३ ॥

' किं देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसि' इति ? ' अग्निदेवतः ' इति । 'सोऽग्निः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति ? 'वाचि'

---

* दीक्षा, किसी वैदिक कर्म में अधिकार लाभ करना । सोम यज्ञ में इस प्रयोजन के लिये यज्ञ के आरम्भ में एक छोटी सी इष्टि की जाती है, जिस का नाम दीक्षिणीयेष्टि है, उस इष्टि से यजमान दीक्षित (दीक्षा वाला) बनता है ॥

† दीक्षा के विना सोमयज्ञ नहीं होता, और सचाई के बिना दीक्षा सफल नहीं होती । और सचाई का साक्षी हृदय होता है ॥

इति । 'कास्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठिता' इति ? 'हृदये' इति । कास्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितम्' इति ॥ २४ ॥

'शाकल्य ने कहा' 'इस ध्रुव दिशा में तेरा देवता कौन है'? 'अग्नि'। 'वह अग्नि किस में प्रतिष्ठित है'? 'वाणी में' और वाणी किस में प्रतिष्ठित है'? 'हृदय में'। और हृदय किस में प्रतिष्ठित है'? ॥ २४ ॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यः 'यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै, यद्ध्येतदन्यत्रास्मत् स्यात्, श्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद् विमथ्नीरन् ॥ २५ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा 'हे अहल्लिक * ! जो तू इस (हृदय) को हम से (=शरीर से) किसी दूसरी जगह ख्याल करता है। यदि यह (हृदय) हम से (=शरीर से) दूसरी जगह होता, तो इस को (शरीर को) कुत्ते खा जाते वा पंछी फाड़ खाते (इसलिए हृदय शरीर में ही प्रतिष्ठित है अन्यत्र नहीं) ॥२५॥

'कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थः' इति ? 'प्राणे' इति । 'कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठितः' इति ? 'अपाने' इति । 'कस्मिन् न्वपानः प्रतिष्ठितः' इति ? 'व्याने' इति ।

---

* अहल्लिक यह एक प्रकार की झिड़क है । अप्रयुक्त शब्द होने से अर्थ का निश्चय होना कठिन है । स्वामि शंकराचार्य लिखते हैं, 'अहनि लीयते' जो दिन को छिप जाता है अर्थात् प्रेत ॥

कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठितः' इति ? 'उदाने' इति। 'कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठितः' इति। 'समाने' इति। स एष नेति-नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो नहि शीर्यते, असंगो नहि सज्यते, असितो न व्यथते, नरिष्यति, एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः, स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति' इति। तꣳ ह न मेने शाकल्यः, तस्य ह मूर्धा विपपात, अपि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥

(शाकल्य ने कहा) और किस में तू (=शरीर) और आत्मा (हृदय) प्रतिष्ठित हो? 'प्राण में *'। 'और प्राण किस में प्रतिष्ठित है'? 'अपान में †' 'अपान किस में प्रतिष्ठित है'? 'व्यान में ‡' व्यान किस में प्रतिष्ठित है?

---

* पूर्व हृदय की प्रतिष्ठा शरीर में बतलाई है, अब यहां हृदय और शरीर दोनों की स्थिति प्राण के सहारे बतलाई है॥

† क्योंकि प्राण बाहर ही चला जाए, यदि उस को अपान वापिस न लाए।

‡ क्योंकि अपान नीचे ही जाए और प्राण बाहर ही, यदि वह व्यान से अपनी सीमा में न थाम लिए जाएं।

'उदान में *'। उदान किस में प्रतिष्ठित है? समान † में। वह आत्मा नेति ‡ नेति (से वर्णन किया गया है) वह ग्रहण करने योग्य नहीं (=उन वस्तुओं की नाईं नहीं जो हाथ से पकड़ी जाती हैं) क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता, वह नष्ट होने योग्य नहीं, क्योंकि वह नष्ट नहीं किया जाता, वह असंग है क्योंकि वह जोड़ा नहीं जाता, वह बन्धनरहित है, न थकता है, न गिरता है। ये आठ (पृथिवी आदि), शरीर हैं आठ लोक हैं (अग्नि आदि), आठ देवता हैं (अमृत आदि), आठ पुरुष हैं। वह जो अलग २ करके और इकट्ठा करके § इन पुरुषों को उलांघे हुए है, उस औपनिषद् (उपनिषद से ही जानने योग्य) पुरुष को मैं तुझ से पूछता हूं, यदि तू उस का स्वरूप न कहेगा, तो तेरा सिर गिर जायगा। शाकल्य ने उस (पुरुष) को नहीं समझा, और उस का सिर गिर गया, अपितु चोर इस की हड्डियां भी ले गए, कुछ और ही (धन आदि) समझते हुए॥ २६॥

---

* प्राण अपान व्यान तीनों ही इधर उधर दूर हो जाएं, यदि उदान से बांधे हुए न हों।

† ये सारी वृत्तियें समान के आश्रित हैं द्विवेदगंग और शंकराचार्य ने समान से सूत्रात्मा से अभिप्राय लिया है॥

‡ देखो पूर्व २।३।६ और आगे ४।२।४; ४।४। २२; ४।५।१५॥

§ प्रतिष्ठा, लोक, और हृदय में उन की एकता को निश्चय करके॥

अथ होवाच 'ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते, स मा पृच्छतु, सर्वे वा मा पृच्छत। यो वः कामयते, तं वः पृच्छामि, सर्वान्वा वः पृच्छामि' इति। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७ ॥

तब उस ने (याज्ञवल्क्य ने) कहा 'पूजनीय ब्राह्मणो ! जो कोई तुम में से चाहता है, वह मुझ से पूछ सकता है; या तुम सारे ही मुझ से पूछ सकते हो । या तुम में से जो कोई चाहता है; उस को मैं पूछता हूं, या तुम सभी को पूछता हूं'। पर उन ब्राह्मणों ने (कोई बात कहने की) दलेरी नहीं की ॥२७॥

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

'यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषो ऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥२॥
मा७ँसान्यस्यशकराणिकिनाट७ँस्नायुवत् स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥
यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥४॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते ।
धानारुह इव वै वृक्षो ऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥५॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात् प्ररोहति ॥६॥

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विदः इति ॥ ७ ॥ २८ ॥

(तब याज्ञवल्क्य ने) उन को इन श्लोकों से पूछा—

जैसे एक बड़ा वृक्ष होता है, ऐसे ही सचमुच पुरुष है; उसके रोम पत्ते हैं, त्वचा इसकी बाहिर का छिलका है ॥ १ ॥ इस की त्वचा से लहू वह निकलता है, जैसे (वृक्ष की) छाल से रस; इसी लिए ज़ख्मी हुए (मनुष्य) से वह (लहू) निकलता है जैसे चोट दिये हुए * वृक्ष से रस ॥ २ ॥

इस मनुष्य के जो मांस है वह (वृक्ष के अन्दर) नर्म छिलके हैं; और (वृक्ष के) रेशे (मनुष्य की) नस की नाईं दृढ़ हैं। हड्डियें अन्दर की लकड़ियें हैं; और (हड्डियों के अन्दर की) चर्बी (लकड़ी के अन्दर के) गूदे के सदृश बनाई गई है ॥ ३ ॥ पर जब वृक्ष कट जाता है; तो वह अपनी जड़ से अच्छा नया बन कर फूट आता है, (अब बताओ कि जब) मृत्यु इस मनुष्य को काट डालता है; तब यह किस जड़ से उगता है ? ॥ ४ ॥

'बीज से, यह नहीं कह सकते, क्योंकि बीज जीते (मनुष्य)

---

* माध्यन्दिन पाठ ' तस्मात्तदातुन्नात् ' है ॥

से पत्पन्न होता है * पर वृक्ष मरने के पीछे दाने से उगता है † यह स्पष्ट ‡ है § ॥ ५ ॥ अगर किसी वृक्ष को जड़ समेत उखाड़ दें, तो वह फिर नहीं होगा, (तब यह बताओ कि जब) मृत्यु इस मनुष्य को काट डालती है, तो वह किस बच रही जड़ से उगता है ॥ ६ ॥ उत्पन्न हुआ २ ही है (फिर) उत्पन्न नहीं होता क्योंकि कौन इस को फिर उत्पन्न करे ?

|| ब्रह्म जो विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है, वह

---

* माध्यन्दिन में इस का उत्तरार्ध यह है, ' जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः ' जो यहां २८ का पूर्वार्ध है ॥

† 'माध्यन्दिन में' ' धानारुह इव वै ' की जगह 'धानारुहउ वै ' पाठ है । इस पाठ में अर्थ अधिक स्पष्ट है क्योंकि काण्व पाठ में भी ' इव ' को अनर्थक ही माना है-' इवशब्दोऽनर्थकः ' । (शंकराचार्य) ॥

‡ माध्यन्दिन में ' अञ्जसा ' की जगह अन्यतः है ॥

§ अभिप्राय यह है, कि बीज से फिर उत्पन्न होता है यह नहीं कह सकते, क्योंकि बीज तभी तक है, जब तक मनुष्य जीवित है । पर वृक्ष में यह बात नहीं, वृक्ष के नाश में भी उस का बीज बना रहता है । प्रेत्यसंभवः=मर कर फिर उत्पन्न होना, इसी अर्थ में प्रेत्यभाव शब्द प्रयुक्त है ॥

|| जब ब्राह्मण चुप हो गए तो यह याज्ञवल्क्य ने अथवा उपनिषद् ने स्वयं उत्तर दिया है । अर्थात् ब्रह्म ही कर्म करने वाले को मरने के पीछे उसका फल देता है और ब्रह्म ही ज्ञानवान् को बन्धन से छुड़ाता है ॥

दान देने वाले की परमगति है और (एषणाओं से उठ कर) दृढ़ खड़े हुए, उस के (=ब्रह्म के) जानने वाले पुरुष की परम गति है ॥ ७ ॥ २८ ॥

चौथा अध्याय—पहला ब्राह्मण

संगति—तीसरे अध्याय में वाद विवाद द्वारा ब्रह्म का स्वरूप और उपासना आदि दिखलाए हैं, अब इस चौथे अध्याय में गुरु शिष्य के संवाद द्वारा ब्रह्म विद्या विषयक सूक्ष्म विषयों का निर्णय करेंगे :—

जनको ह वैदेह आसांचक्रे, अथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज । तं होवाच 'याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तान्' इति । उभयमेव सम्राड्' इति होवाच ॥१॥

जनक वैदेह मिलने वालों के लिये बैठा था तब याज्ञवल्क्य आया । उस को उस ने कहा ' हे याज्ञवल्क्य किस लिये आए हो, क्या पशुओं को चाहते हुए वा सूक्ष्म प्रश्नों को (सुनना चाहते हुए) उसने कहा दोनों ही हे सम्राट् * ' ॥ १ ॥

' यत्ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम ' इति । 'अब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिः ' वाग्वै ब्रह्म ' । इति । । ' यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तच्छैलिनिरब्रवीद् ' वाग्वै ब्रह्म' इति। अवदतोहि किंᳪ स्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्या-

---

* सम्राट्=जिस ने वाजपेय यज्ञ किया है वा राजाधिराज ॥

यतनं प्रतिष्ठाम्' 'न मेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत् सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य'। 'वागेवायतन माकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत' का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य' 'वागेव सम्राड्' इति होवाच 'वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानीष्टꣳहुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते। वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्याभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते। 'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मे ऽमन्यत नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ २ ॥

'जो कुछ तुझे किसी ने बतलाया है, वह सुनाओ' (जनक ने उत्तर दिया) 'मुझे जित्वा शैलिनि (शिलिन के पुत्र) ने बतलाया है कि 'बाणी ब्रह्म है' *। (याज्ञवल्क्य ने

---

* इन आचार्य्यों ने याज्ञवल्क्य को जो उपासना बतलाई हैं, वे शबल ब्रह्म की उपासना हैं, अर्थात् यहां ब्रह्म की उस शक्ति का उपदेश है जिस को बाणी प्रकाशित करती है इत्यादि। इसी लिए आगे कहा है कि बाणी जिस का शरीर है इत्यादि ॥

कहा) जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य वाला (जिस ने तीनों से शिक्षा पाई है) बता सके, वैसे तुझे जित्वा शैलिनि ने कहा है कि 'बाणी ब्रह्म है' क्योंकि न बोलते हुए (गूंगे) को क्या लाभ है? पर उस ने तुझे उस (ब्रह्म) का शरीर (आयतन) और आश्रय (प्रतिष्ठा) बतलाया है (जनक ने कहा) 'उस ने मुझे नहीं बतलाया' (याज्ञवल्क्य ने कहा) हे सम्राट् तो यह (ब्रह्म) केवल एक पादवाला * है? जनक ने कहा 'तब हमें बलाइये हे याज्ञवल्क्य' (याज्ञवल्क्य ने कहा) बाणी ही उसका शरीर है, आकाश आश्रय है, और यह (ब्रह्म) प्रज्ञा है ऐसा चिन्तन करता हुआ इस को उपासे। (जनक ने कहा) (बाणी में) प्रज्ञापन क्या है हे याज्ञवल्क्य! उसने कहा 'बाणी ही है हे सम्राट्' बाणी से हे सम्राट् बन्धु जाना जाता है, ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्याएं उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यजन किया हुआ और होम किया हुआ खिलाया हुआ पिलाया हुआ यह लोक और दूसरा लोक और सारे जीव बाणी से जाने जाते हैं। बाणी हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इस (रहस्य) को ऐसे जानता हुआ इस को उपासता है, उस को बाणी नहीं त्यागती सारे जीव उस की ओर झुकते हैं (उस को प्राप्त होते हैं और

---

* अभिप्राय यह है कि चतुष्पाद (चार पाओं वाले) ब्रह्म का यह एक पाद का ज्ञान है, जैसे कोई भी चतुष्पाद एक पाओं से चल नहीं सकता, इसी प्रकार यह ज्ञान अधूरा है जब तक इस के साथ तीन पाद का ज्ञान न हो। और वे तीनपाद आयतन प्रतिष्ठा और उपासना का प्रकार (प्रज्ञा इत्यादि) हैं॥

लाभ पहुंचाते हैं) वह देवता बन कर देवताओं के पास जाता है'। जनक ने कहा मैं तुझे (इस उपदेश के बदले में) हजार गौएं और एक हाथी जैसा बैल देता हूं'। उस ने कहा 'मेरे पिता की सम्मति थी कि पूरा शासन किये विना (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये'॥ २ ॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति। 'अब्रवीन्म उदङ्कः शौल्वायनः 'प्राणो वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तच्छौल्वायनोऽब्रवीत् 'प्राणो वै ब्रह्मेति'। अप्राणतो हि किंस्याद्' इति। अब्रवीत् तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां' 'न मेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य'! प्राणएवायतन माकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत'। 'का प्रियता याज्ञवल्क्य'! 'प्राण एव सम्राड्' इति होवाच, प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयति, अप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णाति, अपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति. प्राणस्यैव सम्राट् कामाय। प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनं प्राणो जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते। 'हस्त्यृषभंसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः 'पितामेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ ३॥

'जो कुछ तुझे किसी ने बतलाया है। वह मुझे सुनाओ'

उदङ्क शौल्बायन (शुल्ब के पुत्र) ने मुझे बताया है, 'कि प्राण ब्रह्म है ' । ' जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य्य वाला (विद्वान्) बता सके, वैसे तुझे शौल्बायन ने बताया है, कि ' प्राण ब्रह्म है ' क्योंकि बिना प्राण के पुरुष को क्या फल है ? पर तुझे उस (ब्रह्म) का शरीर और आश्रय भी बताया ' ? 'मुझे नहीं बताया' । 'तो यह (ब्रह्म) एक पाओं वाला है हे सम्राट् ' । ' तब मुझे बताओ हे याज्ञवल्क्य' ? 'प्राण ही शरीर है, आकाश आश्रय है, और प्यारा है इस ख्याल से इसकी उपासना करनी चाहिये ' ? ' (इस में) क्या प्यारापन है, हे याज्ञवल्क्य ' ! ' प्राण स्वयं (जीवन अपने आप प्यारा है) हे सम्राट् , क्योंकि प्राण (जीवन) की कामना के लिये हे सम्राट् उस को मनुष्य यज्ञ कराता है, जिस को यज्ञ नहीं कराना चाहिये, और उस से दान लेता है, जिस से दान नहीं लेना चाहिये, और वह जिस दिशा में जाता है, वहां मौत से डरता है, प्राण के निमित्त ही हे सम्राट् * । प्राण हे सम्राट् परब्रह्म है । जो इस (रहस्य) को जानता हुआ इस की उपासना करता है, इस को प्राण नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इस की ओर झुकते हैं, और वह देवता बन कर देवताओं को प्राप्त होता है ' । जनक वैदेह ने कहा ' हजार गौएं और एक हाथी जैसा बैल देता हूं ' याज्ञवल्क्य ने कहा ' मेरे पिता की यह सम्मति थी, ' बिना पूरा शासन किये (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये ' ॥३॥

' यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम ' इति । 'अब्र-

---

* प्राण को प्यारा होने से ही जहां कहीं डर व्यापता है ॥

वीन्मे बर्कुर्वार्ष्णः 'चक्षुर्वै ब्रह्म' इति । 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीत् ' चक्षुर्वै ब्रह्म' इति । अपश्यतो हि किꣳस्यादिति, अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां' ? 'नमेऽब्रवीद्' इति । 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति । 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' ? चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत' । का सत्यता याज्ञवल्क्य' ! ' चक्षुरेव सम्राड्' इति होवाच । चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति, स आहाद्राक्षमिति, तत्सत्यं भवति । चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म । नैनं चक्षुर्जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वादेवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते' । 'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच ' पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत' इति ॥ ४ ॥

जो कुछ किसी ने तुझे कहा है, वही मुझे सुनाओ' ? बर्कु वार्ष्ण (वृष्ण के सन्तान) ने मुझे कहा है 'आंख ब्रह्म है' ? जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य्य वाला कहे, वैसे वह वार्ष्ण ने कहा है कि आंख ब्रह्म है, क्योंकि न देखते हुए का क्या हो ? पर उसने तुझे उस का शरीर और आश्रय कहा है' । उस ने मुझे नहीं कहा है' ' तो हे सम्राट् यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है' ' तब हमें कहो हे याज्ञवल्क्य' ! ' आंख ही उस का शरीर है, आकाश आश्रय है, यह सत्य है इस प्रकार इस की उपासना करनी चाहिये' ' क्या (इस में) सत्यता है हे

याज्ञवल्क्य' उस ने कहा-आंख ही हे सम्राट् सत्य (वह जो सचाई है) है। आंख से देखने वाले को हे सम्राट् कहते हैं-क्या तूने देखा है? वह कहता है, हां मैंने देखा है, तब यह सत्य होता है, आंख हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इस को ऐसे जानता हुआ उपासता है, इस को आंख नहीं त्यागती, सारे जीवधारी इस की ओर झुकते हैं, और वह देवता बन कर देवताओं के पास जाता है'। जनक वैदेह ने कहा 'मैं (इस के लिये) हजार गौएं और एक हाथी जितना बैल देता हूं'। याज्ञवल्क्य ने कहा मेरे पिता की सम्मति थी 'पूरा शासन किये विना (शिष्य से) नहीं लेना चाहिये' ॥ ४ ॥

'यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवाम' इति। अब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः 'श्रोत्रं वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीत्, 'श्रोत्रं वै ब्रह्म' इति। अशृण्वतो हि किꣳस्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्'। 'नमेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत्सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य'। श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत'। 'काऽनन्तता याज्ञवल्क्य'? 'दिश एव सम्राड्' इति होवाच 'तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति, नैवास्या अन्तं गच्छति, अनन्ता हि दिशः, दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं, श्रोत्रं वै सम्राट परमं ब्रह्म। नैनं श्रोत्रं जहाति, सर्वाण्येनं भूता-

न्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते ’। ‘ हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि ’ इति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः ‘ पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत ’ इति ॥ ५ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) ‘ जो कुछ तुझे किसी ने कहा है, वह मुझे सुनाओ ’। ‘ मुझे गर्दभीविपीत भारद्वाज (गोत्री) ने कहा है ‘ श्रोत्र ब्रह्म है ’। ‘जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य्य से शिक्षा पाया हुआ कहे; वैसे वह भारद्वाज ने कहा है, ‘ श्रोत्र ब्रह्म है ’ क्योंकि न सुनते हुए का क्या है ? पर तुझे उस का शरीर और आश्रय भी बताया है ’ ? ‘मुझे उस ने नहीं बताया है ’। ‘ तो हे सम्राट् यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है’। वह हमें बताओ हे याज्ञवल्क्य ’। ‘ श्रोत्र ही शरीर है, आकाश आश्रय है, यह अनन्त है ऐसा चिन्तन करके उस की उपासना करनी चाहिये ’। (इस में) क्या है अनन्तता हे याज्ञवल्क्य ’। उस ने कहा ‘ दिशाएं (अपने आप अनन्त हैं) हे सम्राट् ’। इस लिए हे सम्राट् जिस किसी दिशा में जाता है, उस के अन्त को नहीं पाता, क्योंकि दिशाएं अनन्त हैं, और दिशाएं हे सम्राट् श्रोत्र हैं, और श्रोत्र हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इस को ऐसा जान कर उपासता है, इस को श्रोत्र नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इस की ओर झुकते हैं, और वह देवता बन कर देवताओं के पास पहुंचता है ’। जनक वैदेह ने कहा ‘ मैं (इस के लिये) हज़ार गौएं और एक हाथी जितना बैल देता हूं ’ याज्ञवल्क्य ने कहा ‘मेरे पिता की सम्मति थी बिना पूरा शासन

किये (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये ' ॥ ५ ॥

' यदेव ते कश्चिदब्रवीत्, तच्छृणवाम ' इति । ब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालः 'मनो वै ब्रह्म' इति । 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तज्जाबालोऽब्रवीद्, ' मनो वै ब्रह्म ' इति । अमनसो हि किꣳस्यादिति । अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम् ' 'न मेऽब्रवीद् ' इति । 'एकपाद्वा एतत्सम्राड् ' इति । 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' 'मन एवायतन माकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत ' । ' काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य' । 'मन एव सम्राड्' इति होवाच । मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते, तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते, स आनन्दः । मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म । नैनं मनो जहाति, सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वानेतदुपास्ते ' ' हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि ' इति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः ' पिता मेऽमन्यत, नाननुशिष्य हरेत ' इति ॥ ६ ॥

जो कुछ तुझे किसी ने कहा है, ' वह मुझे सुनाओ ' ? ' मुझे सत्यकाम जाबाल (जबाला के पुत्र) ने कहा है ' मन ब्रह्म है' । 'जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य से शिक्षा पाया हुआ पुरुष कहे, वैसे जाबाल ने कहा है कि ' मन ब्रह्म है ' क्योंकि जो बिना मन के है, उस का क्या है । पर तुझे इस

का शरीर और आश्रय बताया है, । 'मुझे नहीं बताया'। 'तो यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है हे सम्राट्'। 'तब वह हमें बताओ हे याज्ञवल्क्य'। मन ही (उस का) शरीर है, आकाश आश्रय है और यह आनन्द है ऐसा चिन्तन करते हुए इस की उपासना करनी चाहिये'। 'क्या है (इस में) आनन्दता हे याज्ञवल्क्य'। उस ने कहा 'मन ही (स्वयं आनन्द) है हे सम्राट्! मन से हे सम्राट्! स्त्री की कामना करता है। उस से उस के सदृश पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है। मन हे सम्राट्! पर ब्रह्म है। जो इस को ऐसा जान कर उपासता है, इस को मन नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इस की ओर झुकते हैं और वह देवता बन कर देवताओं के पास पहुंचता है'। जनक वैदेह ने कहा 'मैं (इस के लिये) हज़ार गौएं और हाथी जितना एक बैल देता हूं। याज्ञवल्क्य ने कहा 'मेरे पिता की सम्मति थी कि पूरा शासन किये विना (शिष्य से) कुछ नहीं लेना चाहिये'॥ ६॥

'यदेव ते कश्चिद् ब्रवीत्, तच्छृणवाम' इति। अब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यः-'हृदयं वै ब्रह्म' इति। 'यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्, तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्, 'हृदयं वै ब्रह्म' इति। अहृदयस्य हि किꣳस्यादिति। अब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठाम्' 'न मेऽब्रवीद्' इति। 'एकपाद्वा एतत् सम्राड्' इति। 'स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य' 'हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येत-

दुपासीत'। 'का स्थितता याज्ञवल्क्य' हृदयमेव सम्राड्' इति होवाच। 'हृदये वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा, हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म। नैनꣳहृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति, देवो भूत्वा देवानप्येति, य एवं विद्वा-नेतदुपास्ते। 'हस्त्यृषभꣳसहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मेऽमन्यत, नाननु-शिष्य हरेत' इति ॥ ७ ॥

जो कुछ तुझे किसी ने कहा है, वह मुझे सुनाओ'! मुझे विदग्ध शाकल्य (शकल के सन्तान) ने कहा है 'हृदय ब्रह्म है'। जैसे कोई अच्छे माता पिता और आचार्य से शिक्षा पाया हुआ पुरुष कहे, वैसे वह शाकल्य ने कहा है कि—'हृदय ब्रह्म है'। विना हृदय के पुरुष का क्या हो? पर उसने तुझे उस का शरीर और आश्रय बताया है'? 'मुझे नहीं बताया' तो हे सम्राट्! यह एक पाओं वाला (ब्रह्म) है'। तब हे याज्ञवल्क्य हमें बताओ'? 'हृदय ही शरीर है, आकाश आश्रय है और यह स्थिति (स्थिर रहने वाला) है ऐसे चिन्तन करता हुआ इसकी उपासना करे' 'क्या (इस में) स्थितता (स्थिर रहनापन) है हे याज्ञवल्क्य'। उस ने कहा स्वयं हृदय ही (स्थिति) है हे सम्राट्! हृदय हे सम्राट्! सब भूतों (वस्तुओं) का आश्रय है, क्योंकि हृदय में हे सम्राट् सब भूत आश्रित होते हैं। हृदय हे सम्राट् परब्रह्म है। जो इस को ऐसा जानता हुआ उपासता है

हृदय इसको नहीं त्यागता, सारे जीवधारी इस की ओर झुकते हैं, और वह देवता बन कर देवताओं के पास पहुंचता है '। जनक वैदेह ने कहा, 'मैं (इस के लिये) हज़ार गाएं और एक हाथी जितना बैल देता हूं'। याज्ञवल्क्य ने कहा 'मेरे पिता की सम्मति थी कि विना पूरा शासन किये (शिष्य से कुछ) न लेना चाहिये' ॥ ७ ॥

(दूसरा ब्राह्मण)

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच 'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधिः' इति। स होवाच 'यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीत, एव मेवैताभि रुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्कः, इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसि' इति। 'नाहं तद् भगवन् वेद, यत्र गमिष्यामि' इति। 'अथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि, यत्र गमिष्यसि' इति 'ब्रवीतु भगवान्' इति ॥ १ ॥

अब जनक वैदेह तख़्त से (उतर कर शिष्य के तौर पर याज्ञवल्क्य के) पास बैठा और कहने लगा 'तुझे नमस्कार हो, हे याज्ञवल्क्य, मुझे शिक्षा दो'। उस ने कहा 'हे सम्राट् जैसे कोई पुरुष लम्बा रस्ता जाना चाहता हुआ रथ को या नौका को लेवे, इसी प्रकार तेरा मन इन उपनिषदों * से युक्त

---

* उपनिषदों से तात्पर्य वे रहस्य हैं, जो पहले ब्राह्मण में दूसरे आचार्यों ने जनक को उपदेश किये हैं। जो ब्रह्म की

है और इस प्रकार तू पूजा के योग्य है, धनवान् है, वेदों का पढ़ा है; और उपनिषदें तुझे बतलाई गई हैं, तब तू यहां से (इस देह से) अलग हो कर (इन उपनिषद् रूपी रथों वा नौकाओं से) कहां जायगा'? 'हे भगवन् मैं नहीं जानता, जहां जाउंगा'। 'तब मैं तुझे बताउंगा, तू जहां जायगा'। 'भगवन् बताएं' ॥ १ ॥

इन्धो ह वै नामैषः, योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तं वा एतमिन्धꣳसन्तमिन्द्रइत्याचक्षते परोक्षेणैव । परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) यह जो दाईं आंख में पुरुष * है यह इन्ध (=चमकने वाला) नाम है, और वह जो इन्ध है, इसी को परोक्ष करके † (छिपा कर) इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवता परोक्ष के प्यारे हैं और प्रत्यक्ष के द्वेषी हैं ‡ ॥ २ ॥

शबल (सविशेष) उपासनाएं हैं, यह जानते हुए कि वह. प्रिय है, सत्य है, अनन्त है, आनन्द है और स्थिति है ॥

* जाग्रत अवस्था का वर्णन है, इस अवस्था में आत्मा का स्थान दाईं आंख कहते हैं और नाम वैश्वानर ॥

† माध्यन्दिन पाठ 'परोक्षेणेव' है, पर टीकाकार ने इव को एव के अर्थ में ही माना है। और देखो ऐत० उप० १। ३। १४ ॥

‡ प्रत्यक्ष नाम लेने को पसन्द नहीं करते हैं, इस लिए लोग इस देवता को साफ़२ 'इन्ध' न कह कर 'इन्द्र' कहते हैं ॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपम्, एषाऽस्य पत्नी विराट्। तयो रेष सꣳस्तावः, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, अथैनयो रेतदन्नं, य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डः। अथैनयो रेतत्प्रावरणं, यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव, अथैनयो रेषा सृतिः संचरणी, यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति। यथा केशः सहस्रधा भिन्नः, एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति, एताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति। तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः॥ ३॥

अब यह जो बाईं आंख में पुरुष का रूप है, यह इस की पत्नी है विराट्। उन के मिलने की जगह * यह है, जो यह हृदय के अन्दर आकाश है, और इन का यह अन्न है, जो यह हृदय के अन्दर लाल पिण्ड (गोला) है। और इस का यह ओढ़ना † है, जो यह हृदय के अन्दर जाली सी है। और यह (उन के स्वप्न से जाग्रत की ओर) चलने का रास्ता है, जो यह हृदय से ऊपर की ओर नाड़ी जाती है। जैसे एक बाल (मोटाई में से) हज़ार टुकड़े किया जाय, ऐसी (सूक्ष्म) इस की हिता ‡

---

* संस्ताव, यज्ञ में वह स्थान जहां इकट्ठे बैठकर स्तुति करते हैं॥

† प्रावरण, ओढ़ना, अथवा छिपने की जगह॥

‡ हिता, यह नाम इन नाड़ियों के लिये बहुधा प्रयुक्त हुआ है-देखो बृ० उप० ४।३।२०; कठ० उप० ६।१६; कौषी० उप० ४।२०; छान्दो० उप० ६।५।३॥

नाम नाड़ियें हृदय में स्थित हैं । इन के द्वारा यह (=रस) बहता हुआ (सारे शरीर में) बहता है, इस लिए यह (तैजस) इस शारीर आत्मा से अधिक शुद्ध आहार वाला होता है* ॥३॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणाः; दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः; प्रतीचीदिक् प्रत्यञ्चः प्राणाः; उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः; ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणाः; अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः; सर्वाः दिशः सर्वे प्राणाः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते; अशीर्यो नहि शीर्यते, असंगो नहि सज्यते, असितो न व्यथते न रिष्यति । अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि ' इति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको वैदेहः 'अभयं त्वा गच्छाद्, याज्ञवल्क्य, यो नो भगवन्नभयं वेदयसे । नमस्तेऽस्तु, इमे विदेहा अयमहमस्मि ' ॥ ४ ॥

† पूर्व दिशा उस (तैजस) के पूर्व को जाने वाले प्राण हैं; दक्षिण दिशा (उस के) दक्षिण को जाने वाले प्राण हैं; पश्चिम दिशा (उस के) पश्चिम को जाने वाले प्राण हैं, उत्तर दिशा (उसके) उत्तर को जाने वाले प्राण हैं; ऊपर की दिशा

---

* खाए हुए अन्न का अपवित्र और स्थूल अंश मल-मूत्र और पसीने द्वारा बाहर फैंक दिया जाता है और शुद्ध और सूक्ष्म सार इस स्थूल शरीर का आहार बनता है उस का भी सार सूक्ष्म शरीर का आहार बनता है । इसलिए लिङ्ग शरीर स्थूल शरीर से अधिक शुद्ध आहार वाला है ॥

† यहां सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है ॥

(उस के) ऊपर के प्राण हैं, निचली दिशा (उस के) निचले प्राण हैं, सारी दिशाएं (उस के) सारे प्राण हैं ॥ * सो यह नेति नेति (से वर्णन किया हुआ) आत्मा अग्राह्य है क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अटूट्य है, क्योंकि वह तोड़ा नहीं जाता; वह असंग है, क्योंकि जोड़ा नहीं जाता; वह बन्धन रहित है, न थकता है, न नष्ट होता है। हे जनक तू अभय को प्राप्त हुआ है-यह याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ जनक वैदेह ने कहा 'तुझे अभय प्राप्त हो, हे याज्ञवल्क्य ! जो तू हे भगवन् ! हमें अभय (पद) सिखलाता है । यह विदेह (देश) हैं यह मैं हूं (तेरा दास) ॥

तीसरा ब्राह्मण ॥

संगति—इस से पूर्व जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय ये चारों अवस्थाएं संक्षेपतः दिखलाई हैं। अब इस तीसरे ब्राह्मण में एक और सम्वाद द्वारा उसी का सविस्तर वर्णन करते हैं:-

जनकꣳह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम,स मेने न विदिष्य इति । अथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते, तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ, स ह कामप्रश्नमेव वव्रे । तꣳहास्मै ददौ, तꣳह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

'याज्ञवल्क्य ! किं ज्योतिरयं पुरुषः' इति । 'आदि-

---

* यहां आत्मा की तुरीय अवस्था का वर्णन है। इस तरह पर जनक को बतलाया है कि इन उपनिषदों के द्वारा तू स्थूल से सूक्ष्म को पहुंचता हुआ तुरीय अभय पद को प्राप्त होगा ॥

त्यज्योतिः सम्राड्' इति होवाच–'आदित्येनैवायं ज्योति-षाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति। 'एवमेवै-तद् याज्ञवल्क्य' ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य, जनक वैदेह के पास आया, उसका विचार जनक को उपदेश करने का न था। पर जब (पहले कभी) जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में सम्वाद किया था, तब (प्रसन्न हो कर) याज्ञवल्क्य ने उस को वर दिया था। तब उस ने काम प्रश्न ही (जो मैं चाहूं पूछलूं) वर चुना था। और (याज्ञवल्क्य ने) वह (वर) उसे दे दिया था। इस लिए सम्राट् ने पहले ही (आज्ञा मांगे बिना ही) उस से पूछा ॥ १ ॥ 'हे याज्ञवल्क्य! इस पुरुष का ज्योति कौन * है' उस ने कहा 'सूर्य है सम्राट्; क्योंकि सूर्य रूप ज्योति से ही पुरुष बैठता है, इधर उधर जाता है, (वहां) काम करता है और फिर वापिस आता है। (जनक ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य † ॥ २ ॥

---

* 'किं ज्योतिः' बहुव्रीहि समास है अक्षरार्थ यह है, यह पुरुष किस ज्योति वाला है। इसी प्रकार आदित्य ज्योतिः और चन्द्र ज्योतिः आदि में भी बहुव्रीहि समास है ॥

† प्रश्न का अभिप्राय यह है कि यह हाथ पाओं वाला मनुष्य देह जिस प्रकाश से अपने सारे व्यवहार साधता है, यह प्रकाश इस देह से भिन्न है वा देह ही है। याज्ञवल्क्य ने इस के उत्तर में देह से भिन्न आत्मा को ज्योति सिद्ध करना है, इस लिए ऐसी रीति पर उत्तर देते हैं, जिस से मनुष्य को

'अस्तमित आदित्य याज्ञवल्क्य किं ज्योति रेवायं पुरुषः' इति । 'चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवति' इति। 'चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ ३ ॥

जब सूर्य अस्त हो जाता है, हे याज्ञवल्क्य ! तब इस पुरुष की ज्योति कौन है ? चन्द्रमा ही इस की ज्योति होती है, चांद रूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, (वहां) काम करता है और वापिस लौटता है' । 'ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य' ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किं ज्योतिरेवायं पुरुषः' इति । अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीति । अग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य' ॥ ४ ॥

जब सूर्य अस्त होता है और चांद भी अस्त होता है, तो इस पुरुष की ज्योति कौन होती है'? 'अग्नि ही इस की ज्योति होती है'। अग्नि रूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, काम करता है और लौट आता है'। 'ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य' ॥ ४ ॥

अस्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्यमिते शान्ते-

अपने (देह) से भिन्न ज्योति (सूर्य आदि) की आवश्यकता निःसंदेह प्रतीत हो जाए ॥

ऽग्नौ किं ज्योतिरेवायं पुरुषः ' इति । ' वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति, वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' इति । तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्नविनिर्ज्ञायते, अथ यत्र वागुच्चरति, उपैव यत्र न्येति ' इति । ' एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य ' ॥ ५ ॥

जब सूर्य भी अस्त हो जाता है, चन्द्रमा भी अस्त होता है, आग भी शान्त होती है, तब इस पुरुष की कौन ज्योति होती है हे याज्ञवल्क्य ! बाणी (आवाज) ही इस की ज्योति होती है 'वाणी रूपी ज्योति से बैठता है, इधर उधर जाता है, काम करता है और लौट आता है । इसी लिए हे सम्राट् जहां अपना हाथ भी नहीं दीखता, यदि वहां कोई आवाज़ उठती है, तो वहां ही वह पहुंच जाता है ' * । ' ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ' ॥ ५ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुषः' इति । आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति, आत्मैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति ' इति ॥ ६ ॥

जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त होता है, आग शान्त होती है, बाणी शान्त होती है, तब इस पुरुष की कौन

* जैसे आवाज़ से व्यवहार चल जाते हैं, इसी तरह गन्ध आदि के ग्रहण करने से भी जाना आना आदि होता है इस लिए उन को भी ज्योति समझना चाहिये ॥

ज्योति होती है। 'आत्मा ही इस की ज्योति होती है, आत्मा रूपी ज्योति से ही यह बैठता है, इधर उधर जाता है, काम करता है, और लौट आता है' ॥ ६ ॥

कतम आत्मेति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-ज्योतिः पुरुषः। स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव। स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्योरूपाणि ॥७॥ स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभि-सम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते। स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

(जनक ने पूछा) 'वह आत्मा कौनसा है'? (याज्ञ-वल्क्य ने उत्तर दिया) जो यह हृदय के अन्दर विज्ञानमय प्राणों (इन्द्रियों) से घिरा हुआ * ज्योति पुरुष (प्रकाश स्वरूप) है, वह एकरस हुआ दोनों लोकों † में घूमता है मानों सोचता है या चेष्टा करता है ‡। वह स्वप्न बन कर (स्वप्न की अवस्था

---

* 'प्राणेषु' सामीप्यलक्षणा सप्तमी है, जैसे वृक्षों में पत्थर है, अर्थात् वृक्षों से घिरा हुआ है। देखो बृह० उप० ४। ४। २२॥

† इस लोक में, जब जाग्रत वा स्वप्न में है, दूसरे लोक में जब सुषुप्ति में है॥

‡ वास्तव में वह न सोचता है, न काम करता है किन्तु बुद्धि और मन, जो रूप उस के सामने रखते हैं, उन का वह साक्षात् द्रष्टा है॥

में) इस दुनिया को उलांघ जाता है और मृत्यु के रूपों को * (उलांघ जाता है) ॥७॥ यह पुरुष जन्मता हुआ=शरीर धारण करता हुआ बुराइयों से जुड़ता है, और यह निकलता हुआ= मरता हुआ बुराइयों को छोड़ जाता है † ॥ ८ ॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः, इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳस्वप्न स्थानं । तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोक स्थानं च । अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति, तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति । स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

और इस पुरुष के दो स्थान हैं, यह स्थान (जाग्रत)

---

* इस दुनिया की उन सारी वस्तुओं को जो मौत के पंजे में हैं अर्थात् नष्ट होने वाली हैं ।

† शरीर धारण करके बाहरी अवस्थाओं के भीतर ईर्ष्या द्वेष आदि में पड़ता है, और शरीर को छोड़ता हुआ इन को यहीं छोड़ जाता है । यहां भी जाग्रत स्वप्न में जिन दोषों के अन्दर पड़ता है सुषुप्ति में उन को भूल जाता है । इस से स्पष्ट है, कि ये दोष बाहरी अवस्थाओं से प्रकट होते हैं । आत्मा स्वतः विज्ञानमय ज्योति पुरुष ही है । बुराइयें, बुराइयों का कारण शरीर और इन्द्रिय (शंकराचार्य्य) ॥

और दूसरे लोक का स्थान (सुषुप्ति), और तीसरा * मध्य स्थान जो स्वप्न का स्थान है । जब वह इस मध्य स्थान में होता है, तो इन दोनों स्थानों को देखता है, इस स्थान को और परलोक के स्थान को। अब जो सहारा † इस का परलोक के स्थान में होता है, उसी सहारे को पकड़ कर दोनों-बुराइयों और आनन्दों (खुशियों) को देखता है । और जब सो जाता है, तो इस दुनिया की, जिस में सब कुछ है, मात्राओं (सूक्ष्म अंशों अर्थात् वासनाओं) को लेकर आप ही उन को नष्ट कर और फिर आप ही बना कर ‡ अपने प्रकाश से अपनी ही ज्योति से स्वप्न को देखता है । इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति (बिना किसी दूसरी ज्योति के) होता है ॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते, न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्य-

---

* वास्तव में दो ही स्थान वा अवस्था हैं, जाग्रत और सुषुप्ति। तीसरी जगह जो इन के मेल की है, वह ठीक उसी तरह है, जैसे दोनों गाओं की सीमा (हद्द) होती है, जो दोनों से सम्बन्ध रखती है: लोक परलोक=यह जन्म और पर जन्म स्वप्न में दोनों लोकों के स्वप्न देखता है (शंकराचार्य्य) ॥

† कर्म ज्ञान और वासनाएं-देखो बृह० उप० ४।४।२॥

‡ जो कुछ जाग्रत में देखा है, उस का चित्र लेकर, स्वप्न में, आप ही पहले जाग्रत की दुनिया को हटा कर, स्वप्न की दुनिया को बना कर, उस को बाहर के प्रकाश से नहीं किन्तु अपनी ही ज्योति से देखता है।

थाऽनन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता ॥ १० ॥

न वहां (=स्वप्न अवस्था में) रथ, न घोड़े, न सड़कें होती हैं, पर वह रथ घोड़े और सड़कें रच लेता है । न वहां आनन्द, मोद और प्रमोद होते हैं, पर वह आनन्द मोद और प्रमोद को रच लेता है । न वहां तालाब, झीलें और नदियें होती हैं, पर वह तालाब, झीलें और नदियें रच लेता है ॥१०॥

तदेते श्लोका भवन्ति-'स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ ११ ॥ प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ १२ ॥ स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमाणो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

इस (विषय) में ये श्लोक हैं-नींद के द्वारा शरीर सम्बन्धि वस्तु को नाश करके आप न सोया हुआ वह (आत्मा) सोए हुओं (इन्द्रियों) को देखता है । (इन्द्रियों) की ज्योति को लेकर वह फिर अपनी जगह पर (जाग्रत में) आता है, वह सुनहरी पुरुष * अकेला हंस (अकेला ही जाग्रत, स्वप्न और

---

* 'माध्यन्दिनपाठ' पौरुषः 'एक हंसः' के विशेषण के तौर पर है । पर द्विवेदगङ्गने 'पौरुषः' को 'पुरुषः' के अर्थ में ही लिया है, जैसे यहां काण्वपाठ में है ॥

लोक, परलोक में जाने वाला) ॥ ११ ॥ प्राण द्वारा निचले घोंसले (स्थूल शरीर) की रक्षा करता हुआ वह अमर (पंछी) (स्वप्न में) घोंसले से बाहर दूर घूमता है, वह अमर (पंछी) जाता है जहां उस की मर्ज़ी है, वह सुनहरी पुरुष अकेला हंस ॥ १२ ॥ स्वप्न के स्थान में ऊंचे नीचे जाता हुआ वह देव बहुत रूपों (शकलों) को (अपने लिये) बनाता है। या स्त्रियों के साथ खुश होता हुआ या (मित्रों के साथ) हंसता हुआ या भय (के दृश्य) देखता हुआ ॥ १३ ॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन ' इति । तं नायतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्यꣳहास्मै भवति, यमेष न प्रतिपद्यते । अथोखल्वाहुः-जागरितदेश एवास्यैष इति । यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति, तानि सुप्त इति । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति' । ' सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि ' इति ॥ १४ ॥ स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव । स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः ' इति । ' एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य । सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि ' इति ॥ १५ ॥

लोग उसके खेल की जगह को देखते हैं, उसको (=यह खेल खेलने वाले को) कोई नहीं देखता ॥ कहते हैं कि उस

को(गाढ़ निद्रा से) एकाएक न जगाए, क्योंकि उस का इलाज करना कठिन होता है, जिस (इन्द्रिय) की ओर यह (आत्मा) वापिस नहीं जाता है * । और कई लोग कहते हैं-यह (स्वप्न) इस की जागने की जगह ही है, क्योंकि जिन वस्तुओं को जागता हुआ देखता है, उन्हीं को सोया हुआ (देखता है) यहां यह पुरुष स्वयं ज्योति (स्वयं प्रकाश) होता है । (जनक ने कहा) 'मैं भगवन् (आप) के लिये हज़ार (गौएं) देता हूं. इससे आगे (मेरे) मोक्ष के लिये कहो' † ॥१४॥

---

* मिलाओ—सुश्रुत ३ । ७ । १ ॥

† आत्मा को स्वयं ज्योति सिद्ध करने के लिये यह प्रकरण उठाया है । इसी लिए पहले मनुष्य को सूर्य आदि बाह्य ज्योतियों की आवश्यकता दिखला कर अन्त में आत्म-ज्योति से ही उस के सारे निर्वाह दिखलाए हैं । और फिर इसी बात को और भी स्पष्ट दिखलाने के लिये आत्मा की तीनों अवस्थाओं को दिखलाया है । जिस से यह सिद्ध किया है कि जाग्रत में बाह्य प्रकाश की आवश्यकता है, इसलिये आत्मा के स्वयं ज्योति होने में सन्देह हो सकता है, पर स्वप्न में तो आत्मा के साथ कोई ज्योति नहीं है, तौ भी वह सब कुछ स्वयं बनाता है और स्वयं ही देखता है, यह स्वयं ज्योति होने का एक स्पष्ट प्रमाण है । अब इस प्रकरण में 'अथोखल्वाहु...... तानि सुप्तः इति' । यह किस अभिप्राय से है । उत्तर यह है कि इस से यह प्रकट किया है कि यद्यपि जाग्रत और स्वप्न के ज्ञान में कोई भेद नहीं है, जिन पदार्थों को पुरुष जागता हुआ देखता है, उन्हीं को सोया हुआ भी देखता है, तथापि जाग्रत

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस सुषुप्ति (सम्प्रसाद= गहरी नींद) में रमण कर और विचर कर और भले बुरे को देखकर ही फिर उलटा वापिस, जिस स्थान से गया था उसी स्थान में (स्वप्न स्थान में) आता है स्वप्न के लिये । और वह वहां जो कुछ देखता है वह उस से बन्धा हुआ नहीं होता है, * क्योंकि यह पुरुष असंग है । (जनक ने कहा) ऐसे ही है यह हे याज्ञवल्क्य ! मैं भगवान् को हजार (गौएं) देता हूं, इस से आगे फिर मोक्ष के लिये कहो ॥ १५ ॥

' स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव । स यत्तत्र किंचित्पश्य त्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः'

में इन्द्रियों की ज्योति से देखता है और स्वप्न में इन्द्रिय बन्द होते हैं, यहां आत्मा अपनी ज्योति से ही देखता है, इस लिए कहा है ' अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ' ॥ ' इस से आगे मोक्ष के लिये कहो ' जनक का इस वचन के कहने से यह अभिप्राय है कि आत्मा का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का हेतु है, सो आत्मा के विषय में जो ज्ञान आपने दिया है उस के बदले मैं हजार गौएं देता हूं, और इस उपदेश को आप मेरे मोक्ष के लिये जारी रक्खें, जब तक आप मुझे पूर्ण ज्ञान न दे लें ॥

* अक्षरार्थ—वह उस के पीछे नहीं आता है, अर्थात् आत्मा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है, पर उस अवस्था के भले बुरे सारे दृश्य वहीं के वहीं रह जाते है, उसके साथ नहीं जाते ॥

इति । 'एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य, सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति ॥ १६ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस स्वप्न में रमण कर, और विचर कर, और भले बुरे को देख कर ही, फिर उलटा वापिस, जिस स्थान से गया था, उसी स्थान में (जाग्रत स्थान में) आता है जागने के लिये । वह वहां (स्वप्न में) जो कुछ देखता है, वह उस से बन्धा हुआ नहीं होता है, क्योंकि यह पुरुष असंग है । (जनक ने कहा) ऐसे ही है हे याज्ञवल्क्य ! मैं (इस के बदले) भगवान् को हजार (गौएं) देता हूं, इस से आगे फिर मोक्ष के लिये ही कहो ॥ १६ ॥

स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥१७॥ तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं च, एवमेवायं पुरुषः एतावुभावन्तावनु संचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस जाग्रत की अवस्था में रमण कर और विचर कर भले बुरे को देख कर ही फिर उलटा वापिस आता है, जिस स्थान से गया था, उसी स्थान में स्वप्न की अवस्था के लिये ॥ १७ ॥ सो जैसे एक बड़ी मछली (नदी के) पूर्व और परले दोनों किनारों की ओर फिरती है, इसी प्रकार यह पुरुष दोनों अवस्थाओं की ओर

फिरता है स्वप्न की अवस्था की ओर, और जाग्रत की अवस्था की ओर * ॥ १८ ॥

संगति—अब इस के आगे सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हैं :—

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥

और जैसे एक बाज़ वा कोई और (तेज़) पंछी इस आकाश में इधर उधर उड़ कर, थका हुआ, दोनों पंखों को लपेट कर, घोंसले की ओर मुड़ता है, इसी प्रकार यह (पुरुष) इस अवस्था की ओर दौड़ता है, जहां गहरा सोया हुआ न कोई कामना चाहता है, न कोई स्वप्न देखता है ॥ १९ ॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः । अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति, यदेव जाग्रद्भयं पश्यति,

---

* महामत्स्य जैसे दोनों किनारों की ओर फिरता हुआ उन से अलग है, और असङ्ग है, इसी प्रकार आत्मा इन अवस्थाओं में घूमता हुआ इन अवस्थाओं से अलग है और असङ्ग है ॥

तदत्राविद्यया मन्यते । अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳसर्वोऽस्मीति मन्यते, सोऽस्य परमो लोकः ॥ २० ॥

वे जो हिता नामी इस की नाड़ियें हैं-इतनी सूक्ष्मता से (शरीर में) स्थित हैं, जितना कि बाल हज़ार टुकड़े किया हुआ हो, और वे नाड़ियें श्वेत, नीले, पीले, हरे और लाल रङ्ग से भरी हुई हैं * । अब जब कि वह इस को मानों मारते हैं, मानों वश में करते हैं, मानों हाथी (इस का) पीछा करता है, मानों गढ़े में गिरता है, (निदान) वह जागता हुआ जो भय (ख़तरा) देखता है, वही यहां अविद्या (अज्ञान) से ख्याल कर लेता है † । फिर जब वह अपने आप को एक देवता की

---

*द्विवेद गङ्ग ने लिखा है-कि यदि कफ अधिक हो और वात और पित्त अल्प हों, तो नाड़ियों में श्वेत रस बहता है; यदि वात अधिक हो और कफ और पित्त अल्प हों, तो नीला; यदि पित्त अधिक हो और वात और कफ अल्प हों, तो पीला; यदि वात कफ और पित्त अल्प हो, तो हरा; और तीनों धातु सम हों, तो लाल रस बहता है । आनन्दगिरि के लेख का भी यही आशय है और उस ने यह भी दिखलाया है, कि इन के आपस में न्यून अधिक और सम संयोग के होने से बहुत से और विचित्र रङ्ग बन जाते हैं, इस पर सुश्रुत का प्रमाण भी दिखलाया है । यहां इन नाड़ियों के वर्णन करने का अभिप्राय स्वामि शंकराचार्य्य लिखते हैं कि स्वप्न में लिङ्ग शरीर इन अति सूक्ष्म नाड़ियों में घूमता है ।

† स्वप्न में जो कुछ देखता है, वह उस का ख्याल ही होता है, इस लिए हर एक के साथ 'इव'='मानो' शब्द दिया

नाईं वा राजा की नाईं 'मैं ही यह सब कुछ हूं' ऐसा ख्याल करता है,* वह इसका परमलोक (सब से ऊंची दुनिया) है॥२०॥

है और अन्त में कहा है, 'अविद्यया मन्यते' अविद्या से ख्याल कर लेता है ॥

* यह सुषुप्ति का वर्णन है, इसी लिए माध्यन्दिन यहां 'परमोलोकः' के आगे इस पाठ को दुहराते हैं 'यत्र सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति'। जो पाठ यहां १६ वीं कण्डिका के अन्त में आया है। इस अवस्था में मनुष्य देवता की नाईं वा राजा की नाईं अपने आप को पूर्ण समझता है, उस को किसी से कोई भय यहां नहीं रहता, सारे भय जो स्वप्न में हैं, वे यहां आकर मिट जाते हैं। १६ वीं कण्डिका में सुषुप्ति का वर्णन करके यहां २० वीं में दिखलाया है, कि जब लिङ्गदेह सूक्ष्म नाड़ियों के अन्दर घूमता हुआ जाग्रत के सारे भय अनुभव करता है, वह सुषुप्ति नहीं, सुषुप्ति उस के पीछे वह अवस्था है, जब मनुष्य राजाधिराज की नाईं आप ही सब कुछ बन जाता है, अर्थात् कोई त्रुटि उस में नहीं रहती, उस अवस्था में दूसरी वस्तु जो भय का कारण हुआ करती है, उस के लिये नहीं होती, इस लिए कहा है 'मैं ही यह सब कुछ हूं' ऐसा ख्याल करता है। अगली कण्डिकाओं के देखने से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

'जैसे भयानक स्वप्न देखता है, वैसे ही जब जाग्रत में देहभाव की वासना प्रकट होती हैं, तो स्वप्न में भी अपने आप को देवता की नाईं समझता है और जब राजभाव की वासनाएं प्रकट होती हैं, तो स्वप्न में भी राजा की नाईं समझता है और

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳरूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् । तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳरूपꣳशोकान्तरम् ॥ २१ ॥

सो यह इसका (सच्चा) रूप है, जहां कोई इच्छा नहीं*

जब अविद्या बिल्कुल नष्ट हो कर मैं ही सब कुछ हूं, यह विद्या प्रकट होती है, तो स्वप्न में भी उसी वासना से वापिस हो कर 'अहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मि' 'ख्याल करता है और यह इस का असली स्वरूप है' (स्वामि शंकराचार्य) पर यदि यहां 'अहमेव' से नया वाक्य आरम्भ होता, तब इस अकेले वचन का 'सोऽस्य परमोलोकः'=' वह इस का असली रूप है' के साथ सम्बन्ध होता, जो स्वामिशंकराचार्य्य को अभिमत है। परन्तु वाक्य 'अथ यत्र देव इव' से आरम्भ होता है, इसलिए इस सारे का सम्बन्ध ही 'परमोलोकः' से है। और यह स्वामि शंकराचार्य्य को अभिमत नहीं, क्योंकि देवता और राजा की नाईं समझना आत्मा का असली रूप नहीं। इसलिए'परमोलोकः' से यहां अभिप्राय सब से ऊंची दुनिया है और वह जाग्रत स्वप्न की दुनिया की अपेक्षा सुषुप्ति है।

* 'अतिछन्दाः' अकारान्त छन्द शब्द इच्छा वाची होता है, जैसे स्वच्छन्द, परच्छन्द । गायत्र्यादि छन्दोवाची 'छन्दस्' सकारान्त है। तथापि यहां रूप का विशेषण होने से 'अतिच्छन्दं' होना चाहिये। दीर्घ छान्दस है (शंकराचार्य); माध्यन्दिन पाठ अतिछन्दो है।

कोई पाप नहीं, कोई भय नहीं। सो जैसे कोई प्यारी पत्नी से गले लगाया हुआ, न कुछ बाहर देखता है, न अन्दर; इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से गले लगाया हुआ न कुछ बाहर जानता है, न अन्दर। निःसन्देह यह इस का वह रूप है, जहां सारी कामनाएं पूरी हुई हैं, जहां (केवल) आत्मा की कामना है, जहां कोई कामना शेष नहीं है—जो हर एक शोक से रहित * है ॥ २१ ॥

अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः, अनन्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥ यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टे र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत् ॥ २३ ॥ यद्वै तन्न जिघ्रति, जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति। नहि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्। नतु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यज्

---

* माध्यन्दिन पाठ 'अशोकान्तरम्' है। अभिप्राय दोनों में एक है। शोकान्तरम्=शोकछिद्र=शोकशून्यम्=शोक से खाली, और 'अशोकान्तरम्'=न विद्यते शोकोऽन्तरे मध्ये यस्य तत्, जिस के अन्दर शोक नहीं है।

जिघ्रेत् ॥ २४ ॥ यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते । नहि रसयितू रसयितेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद् । न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् रसयेत् ॥२५॥ यद्वै तन्न वदति, वदन्वै तन्न वदति । नहि वक्तु र्वक्तेर्वि-परिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततो ऽन्यद् विभक्तं यद् वदेत् ॥२६॥ यद्वै तन्न शृणोति, शृण्वन् वै तन्न शृणोति । नहि श्रोतुः श्रुते र्विपरिलोपो विद्यतेऽवि-नाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद् विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

* यहां पिता, पिता नहीं है, माता, माता नहीं है, लोक (दुनियाएं) लोक नहीं हैं, देवता, देवता नहीं हैं, वेद, वेद नहीं हैं। अब चोर † चोर नहीं है, हत्यारा ‡ हत्यारा नहीं है, चाण्डाल § चाण्डाल नहीं है, पौल्कस ‖ पौल्कस नहीं है,

---

*इस अवस्था में यह आत्मा सारे सम्बन्धों से अतीत होता है जाग्रत में जो किसी का पिता है, वह अब इस अवस्था में अपने पुत्र के प्रति पिता नहीं है, इसी प्रकार पुत्र भी पुत्र नहीं है। जो जाग्रत में दुनियां थीं, वे अब हमारे लिये दुनिया नहीं हैं ॥

† 'भ्रूणहन्' शब्द के साथ आने (साहचर्य) से यहां चोर से ब्राह्मण के सुवर्ण का चुराने वाला अभिप्रेत है (शंक०)

‡ भ्रूणहा = वरिष्ठब्राह्मणहन्ता = श्रेष्ठ ब्राह्मण का मारने वाला (आनन्दगिरि) § ब्राह्मणी माता से शूद्र पिता का पुत्र ॥

‖ क्षत्रिय माता से शूद्र पिता का पुत्र, इन दोनों (चाण्डाल, पौल्कस) शब्दों से आत्माको जाति सम्बन्धसे अतीत दिखलाया है॥

भिक्षु (संन्यासी) भिक्षु नहीं है, तपस्वी (वानप्रस्थ) तपस्वी नहीं है * इस रूप में भलाई उस के पीछे नहीं आई है, बुराई उसके पीछे नहीं आई है † । क्योंकि वह उस समय के सारे शोकों से पार उतरा हुआ होता है ॥ २२ ॥ और जो वहां (सुषुप्ति में) वह नहीं देखता है, सो देखता हुआ ही वहां नहीं देखता है। क्योंकि द्रष्टा से दृष्टि का लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है । किन्तु वहां उस से अलग कोई दूसरी वस्तु है नहीं, जिस को वह देखे ‡ ॥ २३ ॥ जब वह वहां (सुषुप्ति में)

---

* श्रमण और तापस शब्दों से आश्रम सम्बन्ध से अतीत दिखलाया है ।

† 'अनन्वागतं' नपुंसक है, और यह रूप की तर्फ इशारा है, काण्व पाठ ऐसा ही है और स्वामि शंकराचर्य ने भी ऐसा ही माना है। माध्यन्दिन शतपथ जो छपा है, उस में ' अनन्वागतः ' पुल्लिग निर्देश है, जैसा पूर्व १५, १६ कण्डिका आदि में आया है । तब इस का यही अर्थ होता है कि भलाई इस के पीछे नहीं आई है इत्यादि । पर माध्यन्दिन पाठ भी द्विवेदगङ्ग ने ' अनन्वागतं ' ही माना है ॥

‡ जिस तरह अग्नि का जलना, जब तक अग्नि है, तब तक विद्यमान है । इसी प्रकार यह आत्मा द्रष्टा है, जब तक आत्मा है, तब तक उस की दृष्टि उस के साथ है । आत्मा अविनाशी है, इस लिए उस की दृष्टि भी अविनाशी है । पर वह अविनाशी दृष्टि आंख नहीं, आत्मा का अपना निज रूप ही है, वह आत्मा से अलग नहीं हो सकती । (प्रश्न) तो फिर सुषुप्ति में देखता क्यों नहीं (उत्तर) इस लिए कि वहां कोई

नहीं सूंघता है, तो वह सूंघता हुआ नहीं सूंघता है। क्योंकि सूंघने वाले से सूंघने का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं, जिस को कि वह सूंघे ॥ २४ ॥ और जो वह वहां (सुषुप्ति में) रस नहीं लेता है, तो वह रस लेता हुआ ही रस नहीं लेता है। क्योंकि रस लेने वाले से रस लेने का लोप नहीं होता है, क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उस से अलग है नहीं, जिस का कि वह रस ले ॥ २५ ॥ और जो वह वहां नहीं बोलता है, तो वह बोलता हुआ ही नहीं बोलता है, क्योंकि बोलने वाले से बोलने का लोप नहीं होताहै, क्योंकि वह अविनाशी है, किन्तु वहां कोई और वस्तु उस से अलग है नहीं. जिस (वस्तु) को वह बतलाए ॥ २६ ॥ और जो वह वहां नहीं सुनता है, तो वह सुनता हुआ ही नहीं सुनता है। क्योंकि सुनने वाले से सुनने का लोप नहीं होता है, किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं जिसको वह सुने ॥२७॥

यद्वै तन्न मनुते, मन्वानो वै तन्न मनुते। नहि मन्तुर्मते र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

और जो वह वहां नहीं सोचता है, तो वह सोचता हुआ ही नहीं सोचता है। क्योंकि सोचने वाले से सोचने का

दूसरी वस्तु नहीं जिस को देखे, वहां केवल आत्मा ही आत्मा है। स्वप्न में जब दूसरी वस्तु-वासना है, तो वह आंख के बन्द रहने पर भी देखता है।

लाप नहीं होता है, किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उससे अलग है नहीं जिस को वह सोचे ॥ २८ ॥

यद्वै तन्न स्पृशति, स्पृशन्वै तन्न स्पृशति । नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् स्पृशेत् ॥ २९ ॥

और जो वह वहां नहीं छूता है, तो वह छूता हुआ ही नहीं छूता है । क्योंकि छूने वाले से छूने का लोप नहीं होता है, किन्तु वहां कोई दूसरी वस्तु उस से अलग है नहीं, जिस को वह छुए ॥ २९ ॥

यद्वै तन्न विजानाति, विजानन्वै तन्न विजानाति । नहि विज्ञातुर्विज्ञाते र्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद्, नतु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद् विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥ यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्यो ऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत् स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१॥ सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति । एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः । एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

और जो वह वहां नहीं जानता है, तो वह जानता हुआ ही नहीं जानता है । क्योंकि ज्ञाता से ज्ञान का लोप नहीं होता

है। क्योंकि वह अविनाशी है। किन्तु वहां कोई उस से अलग दूसरी वस्तु है नहीं, जिस को वह जाने * ॥३०॥ जहां दूसरा सा भी † हो, वहां दूसरा दूसरे को देखे, दूसरा दूसरे को सूंघे, दूसरा दूसरे को चखे, दूसरा दूसरे को बतलाए, दूसरा दूसरे को सुने, दूसरा दूसरे को सोचे, दूसरा दूसरे को छुए, दूसरा

---

* जाग्रत और स्वप्न में आत्मा देखता सुनता है, इस लिए इन अवस्थाओं में आत्मा के ज्योतिरूप होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। पर यदि आत्मा ज्योति स्वभाव है, तो यह स्वभाव उस का सुषुप्ति में क्यों नहीं रहता? इस का उत्तर इस विस्तार के साथ दे दिया है, कि जिस तरह सूर्य्य के प्रकाश के सामने जो वस्तु है, उसको वह प्रकाशित करता है, पर जहां कोई दूसरी वस्तु नहीं, वहां प्रकाश स्वयं विद्यमान होता हुआ भी किस को प्रकाशित करे। इसी प्रकार सुषुप्ति में द्रष्टा के सामने कोई दृश्य नहीं, जिसको कि वह देखे। देखना सुनना आदि धर्म भिन्न २ नहीं, किन्तु यह एक ही धर्म के विशेष हैं अर्थात् जानना। आंख से जानने का नाम देखना है और कान से जानने का नाम सुनना। आंख उस के सामने रूप को ला रखती है और कान शब्द को। सुषुप्ति में ये इन्द्रिय थक कर आराम करते हैं, तब उस के सामने कोई दृश्य नहीं रहता, जिस पर उस का प्रकाश पड़े। पर प्रकाश रूप (ज्ञान स्वरूप) वह उस समय भी है। अगर कोई वस्तु उसके सामने होती, तो वह प्रकाशित करता, जब कोई वस्तु है नहीं, तो किस को प्रकाशित करे।

† स्वप्न में यद्यपि दूसरी वस्तु नहीं होती, तथापि ख्याली वस्तु बन सी जाती है, इस लिए 'इव'=सा कहा है॥

दूसरे को जाने ॥ ३१ ॥ वह देखने वाला एक समुद्र * बिना द्वैत के है, यह ब्रह्मलोक † है, हे सम्राट्! यह याज्ञवल्क्य ने उसे शिक्षा दी। यह इस की सब से ऊंची गति है, यह इसकी सब से ऊंची सम्पदा (विभूति) है, यह इस की सब से ऊंची दुनिया है, यह इस का सब से ऊंचा आनन्द है। और सारे जीवधारी इसी आनन्द का एक छोटा सा अंश उपभोग करते हैं ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणाꣳराद्धः समृद्धोभवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः, स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः। अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः। अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः, स एकः कर्मदेवानामानन्दो, ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते। अथ ये शतं कर्मदेवाना मानन्दाः, स एक आजान देवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियाऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियो-

---

* अर्थात् समुद्र की नाईं एकरूप है। सब देखने सुनने आदि की शक्तियें जहां अपने विशेष रूप को त्याग कर एक बनी हुई हैं ॥

† यह ब्रह्मलोक है, जहां आत्मा ब्रह्म में रहता है ॥

ऽवृजिनोऽकामहतः । अथैष एव परम आनन्दः, एष ब्रह्म-लोकः सम्राड्, इति होवाच याज्ञवल्क्यः । 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति । अत्र ह याज्ञ-वल्क्यो बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्योमाऽन्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

वह जो मनुष्यों में ऋद्धिवाला, समृद्धिवाला * और दूसरों का स्वतन्त्र मालिक है, मनुष्य के सारे उपभोगों से भरा हुआ है, वह मनुष्य का सब से ऊंचा आनन्द है । अब जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं, वह उन पितरों का एक आनन्द है, जिन्हों ने (पितरों के) लोक को जीता है, अब जो उन पितरों के सौ आनन्द हैं, जिन्हों ने (पितृ-) लोक को जीता है, वह गन्धर्व लोक में एक आनन्द है । और जो गन्धर्वलोक में सौ आनन्द हैं, वह कर्म देवों का एक आनन्द है, जो कि कर्म से देवतापन को प्राप्त हुए हैं, और जो कर्म देवों के सौ आनन्द हैं, वह एक आजान देवों (जो जन्म से ही देवता हैं) का आनन्द है, और वह उस श्रोत्रिय (पूरे तौर पर वेद के जानने वाले) को भी आनन्द है, जो पाप से दूर है और कामनाओं से दबाया हुआ नहीं है । और जो आजानदेवों के सौ आनन्द हैं, वह एक प्रजापति लोक में आनन्द है, और उस श्रोत्रिय को भी, जो पाप से दूर है और कामनाओं से रहित है । और जो प्रजापति लोक में सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोक में एक आनन्द है

---

* ऋद्धिवाला=सम्पूर्ण अङ्गों वाला, हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ। और समृद्धि वाला=उपभोग की सारी सामग्री वाला ।

और उस श्रोत्रिय को भी, जो पाप से दूर है और कामनाओं से रहित है * और यह सब से ऊंचा आनन्द है । यह ब्रह्म-

---

* निष्पाप और अकामहत श्रोत्रिय के आनन्द की तुलना निचली भूमियों में नहीं दिखलाई, किन्तु आजानदेवों के आनन्द से तुलना आरम्भ की है, और ब्रह्मलोक के आनन्द तक बराबर तुलना दिखलाई है। यहां यह प्रश्न होता है, कि यदि निष्पाप और अकामहत श्रोत्रिय का आनन्द ब्रह्मलोक के आनन्द के सदृश है, तो फिर ब्रह्मलोक से निचली दो भूमियों में उस की तुलना क्यों की ? इस का उत्तर यह है कि श्रोत्रिय होना और निष्पाप होना तो सब भूमियों में एक समान है, पर अकामहत होने में भेद है, किसी की छोटी २ कामनाएं तो दूर हो चुकी हैं, पर ऊंची कामनाएं विद्यमान हैं, जैसे यश की कामना है । और कोई इन कामनाओं से भी ऊंचा पहुंच गया है, इस लिए उन के आनन्द में भेद हो जाता है, किसी का आनन्द आजानदेवों के तुल्य है, किसी को प्रजापति लोक के, और अत्यन्त अकामहत को ब्रह्मलोक के तुल्य है। और इसी भेद के कारण यह तुलना आजानदेवों से भी छोटी भूमियों में भी की जा सकती है, जैसा तै० उप० २ । ८ में दिखलाई है । इस प्रकार जो यह परम आनन्द उस अवस्था में है, यह निष्पाप और अकामहत श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष होता है। जो इस परम आनन्द को प्रत्यक्ष देखना चाहता है, उसे चाहिये कि वेद के विचार में तत्पर हो पाप से परे रहे और तृष्णा को क्षय करे। क्योंकि :—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥

लोक * है, हे सम्राट्! यह याज्ञवल्क्य ने कहा। (जनक ने कहा 'मैं (इसके बदले) भगवान् को हज़ार (गौएं) देता हूं, इस से आगे मुझे मोक्ष के लिये ही कहो'। यहां याज्ञवल्क्य को भय हुआ कि मेधावी (समझ वाले) राजा ने सारी अवस्थाओं (के कहने) के लिये मुझे विवश कर दिया है † ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तयैव ॥ ३४॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायाद्, एवमेवायंशारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति,यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा) वह (पुरुष) इस स्वप्न की अवस्था में रमण कर विचर कर और भले बुरे को देख कर ही फिर उलटा वापिस आता है जहां से वह गया था, अर्थात् जागने

इस लोक में जो काम सुख है और जो दिव्य बड़ा सुख है। यह दोनों तृष्णाक्षय के सुख की सोहलवीं कला के बराबर नहीं हैं॥

* देखो तै० उप० २। ८, छान्दो० उप० ८। २। १-१० कौषी उप० १। ३। ५॥

† याज्ञवल्क्य को इस लिए भय नहीं हुआ कि उस का अपना ज्ञान अपूर्ण है, किन्तु इस लिए कि राजा को हक है, जो कुछ चाहे पूछे और अब उस हक से यह मुझे एक ही साथ सारे रहस्य खोलने के लिये अनुरोध करता है।

की अवस्था के लिये * ॥३४॥ सो जैसे पूरा लदा हुआ छकड़ा चीकता हुआ (चींचीं करता हुआ) जाता है, इसी प्रकार यह शरीर वाला आत्मा प्राज्ञ आत्मा से सवार हुआ चीकता हुआ जाता है, जब यह मरने को होता है † ॥ ५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति, जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति । तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यते, एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

और जब यह कमज़ोरी की तर्फ नीचे जाता है, बुढ़ापे से या बीमारी से कमज़ोरी में डूब जाता है, उस समय यह पुरुष, जिस तरह आम या गूलर (अंजीर) या पिप्पल (फल) अपनी डंडी से छूट जाता है, ठीक इसी तरह इन अंगों से छूट कर फिर ‡ उलटा वापिस उसी स्थान की ओर जाता है जहां से आया था (नए) जीवन के लिये ही ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमायान्त मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीति,एवꣳहैवं

---

* देखो पूर्व कण्डिका १७ ॥

† ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति=अक्षरार्थ ऊपर को सांस भरता है ॥

‡ पुनः=फिर, कहने से यह सिद्ध होता है कि पहले भी कई बार एक देह से दूसरे देह में गया है, जैसे स्वप्न और जाग्रत में बार २ जाता है, इसी तरह एक देह से दूसरे देह में बार २ जाता है ॥

विदꣳसर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

जैसे आते हुए राजा के लिये पुलीस वाले (सिपाही) मजिस्ट्रेट, घोड़ों के चलाने वाले (सूत) और नम्बरदार (गाओं के हाकिम) अन्न पान और महलों से तय्यार रहते हैं, यह कहते हुए, कि यह आ रहा है यह आया। इसी प्रकार सारे भूत * उस के लिये तय्यार रहते हैं जो यह जानता है, यह कहते हुए कि 'यह ब्रह्म † आ रहा है, यह आया' ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्त मुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्ति, एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥

और जैसे जाना चाहते हुए राजा के पास पुलीस वाले, मजिस्ट्रेट, घोड़ों के चलाने वाले और नम्बरदार इकट्ठे हो

---

* शरीर के बनाने वाले महाभूत और इन्द्रियों के सहायक सूर्य्य आदि ॥

† आत्मा दुनिया का भोगने वाला और बनाने वाला है। बनाने वाला होने से उसे ब्रह्म कहा है। बनाने वाला इस लिए कि दुनिया उस के कर्म का फल है। जैसी दुनिया में आत्मा जाता है, वह मानों उसके लिये कर्मों ने बनाई है, इसी लिये कहा है—

"कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते"।

अर्थ—अपनी बनाई हुई दुनिया में पुरुष पैदा होता है ॥

कर आते हैं, इसी प्रकार सारे प्राण (इन्द्रिय) अन्तकाल में इस आत्मा के पास इकट्ठे हो कर आते हैं, जब यह मरने को होता है ॥ ३८ ॥

॥ चौथा ब्राह्मण ॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येति, अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति । स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति । स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

जब यह आत्मा कमज़ोरी में डूबकर मानो बेख़बरी (बेहवासी) में डूबता है, तब सारे प्राण इकट्ठे होकर इस के पास आते हैं, और वह इन तेज के अंशों (इन्द्रियों) को अपने साथ लेकर हृदय में उतरता है। और जब यह चाक्षुष (आंख में का) पुरुष * बाहर वापिस आ जाता है, तब वह किसी रूप को नहीं जानता है ॥ १ ॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुः । एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुः । एकीभवति न रसयत इत्याहुः । एकीभवति न वदतीत्याहुः । एकीभवति न शृणोतीत्याहुः । एकीभवति न मनुत इत्याहुः। एकीभवति न स्पृशतीत्याहुः। एकीभवति न विजानातीत्याहुः । तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते,

---

* चाक्षुष पुरुष = सूर्य्य का वह अंश जो आंख में है, जब कि आंख काम करती है, और जो मरने के समय निकल कर सूर्य्य में जा मिलता है (शंकराचार्य) ।

तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति, चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः। तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तꣳसर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति । सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

एक हो जाता है * (तब पास के लोग) कहते हैं-'अब नहीं देखता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं-'नहीं सूंघता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'रस नहीं अनुभव करता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं बोलता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं सुनता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं सोचता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं छूता है' एक हो जाता है, वे कहते हैं 'नहीं जानता है'। अब उस के हृदय का अग्र † प्रकाशित हो जाता है, इस प्रकाश से वह आत्मा निकलता है, या तो आंख से, ‡ या मूर्धा (सिर) से §

---

* इन्द्रिय, लिङ्ग शरीर के साथ एक हो जाता है, अलग काम नहीं करता, इसी विषय में कौषी० उप० ३। ३ में कहा है—'प्राण एकीभवति'=प्राण में एक होता है।

† वह हिस्सा जहां से हिता नाड़ियें हृदय से ऊपर जाती हैं॥

‡ जब उस का ज्ञान और कर्म उस के लिये सूर्यलोक की प्राप्ति का साधन होते हैं (शंकराचार्य)॥

§ जब उस का ज्ञान और कर्म उस के लिये ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन होते हैं (शंकराचार्य)।

या शरीर के दूसरे हिस्सों से। और जब वह निकलता है तो (मुख्य) प्राण उसके पीछे निकलता है, और जब प्राण (जीवन) निकलता है, तो सारे प्राण (इन्द्रिय) उस के पीछे निकलते हैं। वह विज्ञान सहित ही चलता है * उस को (उस की) विद्या (उपासना) और कर्म सहारा देते हैं और पहली प्रज्ञा † (बुद्धि) भी ॥

---

* जैसे ज्ञान और कर्म उस ने सेवन किये हैं, जिन का फल अब परलोक में उस ने उपलब्ध करना है, उनके अनुसार उस की वासनाएं जाग पड़ती हैं और वह उन संस्कारों को साथ लेकर चलता है। इस लिए वह जो अपने इस समय को रमणीय बनाना चाहता है, उसे पहले ही श्रद्धा के साथ परमात्मा की भक्ति और पुण्य का संचय करना चाहिये।

† विद्या कर्म और पूर्व प्रज्ञा, ये ही तीनों परलोक का सहारा बनते हैं। जैसे कर्म और जैसी उपासना है, तदनुसार उस को उच्च नीच योनि मिलती है। और जो बच्चों में समझ का भेद है, वह उनकी पूर्व प्रज्ञा के अनुसार होता है, यह स्पष्ट देखने में आता है, कि कई बच्चे थोड़े अभ्यास से ही चित्र खींचने आदि में ऐसे चतुर निकलते हैं, जैसे दूसरे अभ्यास से भी नहीं। इसी प्रकार सब विषयों में स्वभाव से किसी में कौशल और किसी में अकौशल देखते हैं, यह सब उन की पूर्व प्रज्ञा के प्रकट होने और प्रकट न होने के कारण है। अतएव मनुष्य को अपने दूसरे जन्म के सुधार के लिये शुभ विद्या शुभ कर्म और शुभप्रज्ञा सम्पादन करनी चाहिये।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुप सꣳहरति, एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥

जैसे भुनगा (सुण्डी) तिनके के अन्त पर पहुंच कर और एक और सहारा पकड़ कर अपने आप को खींच लेता है, इसी प्रकार यह आत्मा शरीर को परे फैंक कर *-अचेतन बना कर † और एक सहारा पकड़ कर अपने आप को खींच लेता है ॥ ३ ॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं तनुते, एवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं कुरुते, पित्र्यंवा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४॥

सो जैसे सुनार सोने का एक टुकड़ा लेकर उससे एक और अधिक नया और सुन्दर रूप (शकल) फैलाता है (=बनाता है) । इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को परे फैंक कर-अचेतन बनाकर, अधिक नया और अधिक सुन्दर और रूप बना लेता है या पितरों का ‡ या गन्धर्वों का या देवताओं का या

---

* देखो बृह० उप० ४ । ३ । ६; ४ । ३ । ११ ॥

† अथवा अविद्या को निकाल कर ॥

‡ पितृभ्यो हितं=पितरों के लिये हितकारी, पितृलोक के उपभोग के योग्य, इसी प्रकार गन्धर्वों के उपभोग योग्य इत्यादि (शंकराचार्य) ॥

प्रजापति का या ब्रह्मा का अथवा दूसरे प्राणधारियों का (अपने २ ज्ञान कर्म और पूर्व प्रज्ञा के अनुसार) ॥ ४ ॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म, विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमय श्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमय स्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयो ऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः। तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः 'काममय एवायं पुरुषः' इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥ ५ ॥

सो यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय. धर्ममय, अधर्ममय, और सर्वमय है * । सो जो यहमय

* आत्मा ब्रह्म के सदृश स्वयं चितिरूप है, वह जिस २ में लगता है वह २ रूप बन जाता है, बुद्धि से निश्चय करता हुआ विज्ञानमय और मन से इरादा करता हुआ मनोमय बन जाता है, प्राण से जीवन की रक्षा करता हुआ प्राणमय आंख से देखता हुआ चक्षुर्मय, और कान से सुनता हुआ श्रोत्रमय होता है, वह जिस प्रकार प्राण और इन्द्रियों में तत्तद्रूप प्रतीत होता है, इसी प्रकार वह इस भौतिक शरीर में भूतमय बन जाता है। और इसी प्रकार वह हृदय के भावों में और अपनी लग्न

और वहमय, (यहरूप और वहरूप) है, सो जैसा कर्म करने वाला और जैसा बर्ताव करने वाला होता है, वैसा ही वह बनता है:—नेकीकरने वाला नेक बनता है और बुराई करने वाला बुरा बनता है। पुण्य कर्म से वह पुण्यात्मा बनता है, और पाप कर्म से पापात्मा बनता है। और कहते हैं, कि यह पुरुष कामनामय * ही है, उसकी जैसी कामना होती है, वैसा इरादा होता है, जैसा इरादा होता है, वैसा कर्म करता है,और जैसा कर्म करता है, वैसा फल लगता है † ॥ ५ ॥

तदेष श्लोको भवति–तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानोऽथाकामयमानः–योऽकामो निष्काम आप्त-

---

में तत्तद्रूप बन जाता है। कामना में लग कर वह काममय है और कामना को त्याग कर अकाममय है। वह धर्म की लग्न में धर्ममय है और धर्म के त्याग में अधर्ममय है। इस प्रकार यह आत्मा सर्वमय है, यह जैसी अवस्था में इस दुनिया में रहता है, वैसा ही बन जाता है, और वैसा ही आगे जाकर फल पाता है॥

* जैसा चाहता है, वैसा ही बनता है और वैसा ही भोगता है इस लिए यह केवल काममय ही है॥

† पहली कण्डिका में मरने के पीछे जो भिन्न २ फल दिखलाए हैं, वह इस के अपने कर्मों का फल हैं, यह इस कण्डिका में सिद्ध किया है॥

काम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

इस विषय में यह श्लोक है—वहीं मन लगाए हुए अपने कर्म के साथ जाता है, जहां इस का लिङ्ग शरीर-मन बन्धा हुआ है। और उस कर्म के अन्त (अन्तिम फल) को पाकर, जो कुछ वह यहां करता है, उस लोक से फिर इस लोक में आता है, कर्म करने के लिये। यह वह पुरुष है, जो कामना वाला है, अब कामना न करने वाला (कहते हैं)—जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिस की कामनाएं पूरी हो गई हैं, या जिस को केवल आत्मा की कामना है, उस के प्राण (प्राण और इन्द्रिय) नहीं निकलते हैं (निकल कर दूसरा देह धारण करने को नहीं जाते हैं) वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है ॥ ६ ॥

तदेष श्लोको भवति—' यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' इति। तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत, एवमेवेदꣳशरीरꣳशेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव। 'सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि' इति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

इस विषय में यह श्लोक है—" जो कामनाएं इसके हृदय में रहती हैं, जब वे सारी की सारी छूट जाती हैं, तब मर्त्य (मरने वाला, मनुष्य) अमृत हो जाता है, और यहां वह ब्रह्म

को प्राप्त होता है " और जैसे सांप की कैंचुली मरी हुई और फैंक दी हुई वर्मी (चीउटियों के बनाए हुए मट्टी के ढेर) पर पड़ी रहे, इसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है, और यह आत्मा शरीर से रहित अमृत प्राण (जीवन) ब्रह्म ही है, तेज (प्रकाश स्वरूप) है " जनक वैदेह ने कहा (इस के बदले) मैं भगवान् को हज़ार (गौएं) देता हूं * ॥ ७ ॥

तदेते श्लोका भवन्ति–' अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥९॥ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥ १० ॥ अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा-

---

* (प्रश्न) यहां मोक्ष का उपदेश कर दिया गया है, इसलिए अब इसके बदले में जनक को विदेहराज्य और अपना आप निवेदन करना चाहिये था न कि हज़ार गौएं ? उत्तर यह है कि यहां मनुष्य के जन्म मरण की व्यवस्था के सम्बन्ध में संसारी और मुक्त की मृत्यु का विशेष दिखलाया है । वास्तव में साधनों सहित ब्रह्म का उपदेश अभी शेष है, जो इस से आगे है । और (२३ कण्डिका में) जब उस अवस्था में याज्ञवल्क्य ने जनक को पहुंचा दिया है, तो जनक ने उस पूर्ण ज्ञान को पाकर विदेहराज्य और आत्मा ही निवेदन किया है ॥

ऽऽवृताः । ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधा जनाः ॥ ११॥ आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१२॥ यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥ इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥ यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥ यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥१६॥ यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥ मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१९॥ एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥ २० ॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनꣳहि तद्' इति ॥ २१ ॥

इस विषय में यह श्लोक * है-' सूक्ष्म, फैला हुआ † और पुराना रस्ता मुझे छुआ है, मैंने ढूंढ पाया है, उस (मार्ग) से ब्रह्म के जानने वाले धीर पुरुष विमुक्त हुए स्वर्ग लोक को जाते हैं और (तब) इस से भी ऊपर ‡ ॥ ८ ॥ कहते हैं कि इस मार्ग में या श्वेत, या नीला, या पीला, या हरा, या लाल है § यह मार्ग ब्रह्मा ¶ से ढूंढा गया है, इस (मार्ग) से वह जाता है, जो ब्रह्म को जानने वाला है, जिसने पुण्य कर्म किये

---

* ये वचन स्वतन्त्र हैं, अथवा याज्ञवल्क्य द्वारा ही उपदेश दिये गए हैं ॥

† ' विततः, अणु ' के विरुद्ध प्रतीत होता है, अभिप्राय यह है कि वह मार्ग यद्यपि सारे फैला हुआ है, पर है सूक्ष्म, इस लिए उस का ढूंढ पाना कठिन है। अथवा विततः दूर तक फैला हुआ है, इस मार्ग पर चलने वाले की गति किसी लोक में भी रुक नहीं सकती, माध्यन्दिनपाठ ' विततः ' की जगह ' वितरः ' है अर्थात् पार लगाने वाला ।

‡ ब्रह्मवेत्ता लोग (जीते ही) विमुक्त हुए इसके (शरीर गिरने के) पीछे स्वर्गलोक अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं (शंकराचार्य) पर ' जो अर्थ ऊपर दिया गया है, उस के असली होने में माध्यन्दिन पाठ सहायक है '-' तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्ग लोक मितो विमुक्ताः' उस मार्ग से ब्रह्मवेत्ता धीर पुरुष यहां से छूटकर स्वर्गलोक को उलांघ कर जाते हैं अर्थात् यह मार्ग केवल स्वर्ग तक नहीं उस से परे भी है ॥

§ ये नाड़ियों के रङ्ग हैं, जैसा पूर्व ४।३।२० में दिये हैं ॥

¶ वेदवेत्ता ब्राह्मण से, वा ब्रह्म से=वेद से ॥

हैं और जो तेजस्वी है ॥ ६ ॥ गाढ़ अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, जो (केवल) अविद्या का सेवन करते हैं, और वे मानों इस से भी बढ़कर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो (केवल) विद्या में रत (तत्पर) हैं * ॥१०॥ अनजान अज्ञानी इन लोकों में जाते हैं, जो सुख से खाली † और गाढ़ अन्धेरे से ढपे हुए हैं ॥ ११ ॥ यदि पुरुष अपने आप को जान ले कि ' मैं यह हूं' तो फिर क्या चाहता हुआ किस कामना के लिये शरीर के पीछे दुःखी हो ‡ ॥१२॥ इस खतरे वाले गहन (जङ्गल=संसार) में प्रविष्ट हुआ आत्मा जिसने ढूंढ लिया है और समझ लिया है, वह विश्व कर्त्ता है, क्योंकि वह सब का बनाने वाला है § उस की दुनिया है, वह अपने आप दुनिया है ¶ ॥ १३ ॥ यहां ही होते हुए हम उस को जान सकते हैं, और यदि मैं यहां ज्ञान-हीन रहा, ‖ तो एक भारी विनाश है। जो उस को जानते हैं,

* मिलाओ ईश० ६—११ ॥

† मिलाओ ईश० उप० ३; कठ० उप० १,३ ॥

‡ शरीर के सन्ताप से आत्मा सन्तप्त होता है, क्योंकि वह अपने स्वरूप को उस से अलग नहीं समझता, जब वह अपने स्वरूप को अलग पहचान ले, तो फिर वह इसके सन्ताप से सन्तप्त नहीं होगा; माध्यन्दिन पाठ 'अनुसंज्वरेत्' की जगह 'अनुसंचरेत्' है।

§ अभिप्राय कृतकृत्य हो जाने से है।

¶ शंकराचार्य ने दुनिया से अभिप्राय यहां आत्मा लिया है॥

‖ 'अवेदिः' सन्दिग्ध सा शब्द है, शंकराचार्य के अनुसार अर्थ दे दिया है अर्थात् ज्ञान हीन ॥

वे अमृत होते हैं, पर दूसरे दुःख ही अनुभव करते हैं ॥ १४ ॥ जब मनुष्य इस दिव्य आत्मा को साफ़ तौर पर भूत भविष्यत् पर हकूमत करता हुआ देख लेता है, तो वह उस से मुख नहीं मोड़ता है * ॥ १५ ॥ सारे दिनों समेत बरस जिस से वरे ही चक्र खाता है, उस को देवता उपासते हैं, जो ज्योतियों की ज्योति, आयु, अमर है ॥ १६ ॥ जिस में पांच पञ्चजन † और आकाश रहता है, मैं उसको आत्मा समझता हूं, मैं जो जानने वाला हूं (उस को) ब्रह्म (समझता हूं) मैं जो अमर हूं, उस को अमर (समझता हूं) ॥ १७ ॥ जो उस को प्राण का प्राण, आंख की आंख, कान का कान और मन का मन जानते हैं ‡ वे उस को पुराना, सब से पहला ब्रह्म जानते हैं ॥ १८ ॥ मन से ही यह देखना चाहिये, § कि इस में कुछ नानात्व नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस मे नानात्व सा देखता है ॥ १९ ॥ इस अविनाशी और अप्रमेय (हस्ती) को एक ही प्रकार से देखना चाहिये, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् और अविनाशी है ॥२०॥ धीर ब्राह्मण उसी को जान कर प्रज्ञा (दानाई) ¶ पैदा करे। बहुत शब्दों

---

* अक्षरार्थ घृणा नहीं करता है; तब वह किसी से डरता नहीं है, अथवा किसी की निन्दा नहीं करता है (शंकराचार्य)॥

† गन्धर्व, पितृ, देवता, असुर और राक्षस, या चार वर्ण और पांचवां निषाद, या प्राण, आंख, कान, अन्न और मन ॥

‡ देखो—तल० उप० १ । २ ॥

§ देखो कौषी० उप० ४ । १०-११ ॥

¶ अर्थात् ज्ञान के साधन—त्याग, शान्ति, इन्द्रियों का

में न लगा रहे, क्योंकि वह वाणी का थकाना ही है ॥ २१ ॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते। सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतु र्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते, 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इति। ते हस्मपुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। एतमुहैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमिति। उभे उ ह वैष एते तरति, नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

निग्रह वैराग्य, तितिक्षा और चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करे (शंकराचार्य) ॥

और यह महान् जन्मरहित आत्मा, विज्ञानमय है प्राणों से घिरा हुआ, जो यह हृदय के अन्दर आकाश है * उस में आराम करता है, सब का वश करने वाला, सब पर हकूमत करने वाला, सब का अधिपति। वह न नेक कर्म से बड़ा होता है, न बुरे कर्म से छोटा होता है। यह सब का ईश्वर है, सब भूतों (प्राण धारियों) का अधिपति है, सब भूतों की रक्षा करने वाला है। यह एक अपने २ ठिकाने रखने वाला बन्द है † इन लोकों की गड़बड़ को रोकने के लिये। इस को ब्राह्मण वेद पढ़ने से जानना चाहते हैं, तथा यज्ञ से, दान से, तप से, और न खाने से ‡ इसी को जान कर मनुष्य मुनि बनता है। केवल इसी लोक (ब्रह्म) को ही चाहते हुए परिव्राजक (संन्यासी) (घरों में) चले जाते हैं। इसी को जानते हुए, पूर्व विद्वानों ने (सन्तान की कामना न की) कहा,-'हम प्रजा से क्या करेंगे, जिन के पास यह आत्मा है यह लोक (ब्रह्म) है'। § और वे पुत्रों की इच्छा से, धन की इच्छा से, और नए लोकों की इच्छा से ऊपर उठकर भिक्षावृत्ति से घूमते फिरे। क्योंकि इच्छा जो पुत्र की है, वह धन की इच्छा है, और इच्छा जो धन की है, वह लोक की इच्छा है। यह दोनों निःसन्देह इच्छाएं

---

* देखो—बृह० उप० ४।३।७॥

† देखो—छान्दो० उप० ८।४॥

‡ अक्षरार्थ 'न खाने से' है। अभिप्राय इन्द्रियों को विषयों से रोकना है।

§ देखो-बृह० उप० ३।५।१॥

ही होती हैं । और वह आत्मा जिस का वर्णन नेति नेति है * वह ग्रहण करने योग्य नहीं, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता है; वह अटूट्य है, क्योंकि वह तोड़ा नहीं जाता, वह असङ्ग है, क्योंकि वह किसी के साथ जुड़ता नहीं है; वह बन्धन रहित है, न वह पीड़ित होता है, न फिसलता है । (जो इस को जानता है) ये दोनों (ख्याल) उस को तर नहीं जाते (दबा नहीं लेते) कि इस कारण से मैंने यह बुराई की है, वा इस कारण से मैंने यह भलाई की है—हां यह आप इन दोनों को तर जाता है (ऊपर हो जाता है)। और न ही, जो कुछ उस ने किया है वा जो कुछ उस ने नहीं किया है ये दोनों उस को तपाते हैं (उस पर असर डालते हैं) † ॥ २२ ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा ऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति । नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति । विपापो विरजो-

---

* देखो—बृह० उप० ३ । ९ । २६; ४ । २ । ४ ॥

† जिस ने अपना आत्मा जान लिया है, उस के पहले किये हुए भले बुरे कर्म उस को बन्धन में नहीं डालते किन्तु ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं, और इसी लिये जो कर्तव्य वह नहीं पाल सका है, वह भी उस को नहीं तपाता है ॥

ऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसि ' इति होवाच याज्ञवल्क्यः। ' सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि, मां चापि सह दास्याय ' इति ॥ २३ ॥

सो यह ऋचा से कहा गया है-' यह (नेति नेति से वर्णित) ब्राह्मण की नित्य महिमा न (शुभ) कर्म से बड़ी होती है, न (पाप) कर्म से छोटी होती है। मनुष्य को चाहिये कि उसी का खोजी बने, उसको खोजकर पाप से लिप्त नहीं होता है ' ॥ इस लिए ऐसा जानने वाला (पुरुष) शान्त, दान्त, विरक्त, सहनशील और एकाग्र हो कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, सब को आत्मा देखता है, पाप इसको तर नहीं जाता (दबा नहीं लेता) यह सब पापों को तर जाता है, पाप इस को नहीं तपाता है, यह सब पापों को तपाता है, पाप से रहित, मल से रहित, संशय से रहित (सच्चा) ब्राह्मण होता है, यह है ब्रह्मलोक, हे सम्राट् ! तू इस (लोक) को पहुंचाया गया है '-इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा। (जनक ने कहा) ' भगवन् ! (इस के बदले) मैं आप को विदेह (देश) देता हूं, और अपने आप को भी साथ ही देता हूं, तुम्हारे दास भाव के लिये ' ॥ २३ ॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः। विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥ स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयꣳह वै ब्रह्म भवति, य एवं वेद ॥ २५ ॥

यह * महान्, अजन्मा आत्मा, अन्न खाने वाला (मज़्बूत) †, धन का दाता है, जो ऐसा जानता है, वह धन लाभ करता है ॥२४॥ यह महान् अजन्मा आत्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय ब्रह्म है । ब्रह्म अभय है, और वह जो ऐसा जानता है, अभय ब्रह्म बन जाता है ॥ २५ ॥

पांचवां-ब्राह्मण ‡

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च । तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव, स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी । अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥१॥ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः 'प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि, हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणि' इति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियें थीं मैत्रेयी और कात्यायनी । उन में से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, पर कात्यायनी केवल उतनी प्रज्ञा (दानाई) वाली थी जितनी (साधारण) स्त्रियों की

---

* पूर्व जनक और याज्ञवल्क्य की आख्यायिका में जिस का वर्णन हुआ है ॥

† सब प्राणियों में रहता है और हरएक खुराक खाता है, जो उन की है (शंकराचार्य्य) ॥

‡ इस ब्राह्मण की व्याख्या पूर्व २ । ४ में लिख आये हैं, इस लिए यहां अर्थ मात्र ही लिखेंगे, सिवाय उन स्थलों के, जिन में विशेषता है ॥

होती है। अब याज्ञवल्क्य ने जब (जीवन की) दूसरी अवस्था को आरम्भ करना चाहा (जब उस ने गृहस्थ को छोड़ कर बन में जाना चाहा) ॥१॥ तो याज्ञवल्क्य ने कहा—'हे मैत्रेयि! मैं इस स्थान से जाने वाला हूं (जङ्गल की ओर) अहो! तेरा अब इस कात्यायनी के साथ फैसला कर जाउं'॥ २॥

सा होवाच मैत्रेयी–'यन्नु म इयं भगोः! सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, स्यां तेनामृताऽऽहो३नेति। नेति होवाच याज्ञवल्क्यो 'यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्त्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन' इति ॥ ३ ॥ सा होवाच मैत्रेयी–'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां, यदेव भगवान् वेद, * तदेव मे ब्रूहि' इति ॥ ४ ॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः–'प्रिया वै खलु नो भवति सती प्रियमवृधद्, हन्त तर्हि भवत्येतद् व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' इति ॥

मैत्रेयी ने कहा—'हे भगवन्! यदि यह सारी पृथिवी धन से भरी हुई मेरे लिये हो, तो क्या मैं उस से अमर हो जाउंगी, वा नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा–'नहीं, जैसे अमीर लोगों का जीवन होता है, वैसे तेरा जीवन होगा। पर अमर होने की तो धन से कोई आशा नहीं है ॥ ३ ॥ मैत्रेयी ने कहा–'जिस से मैं अमर नहीं हूंगी, उस से क्या करूंगी? जो कुछ भगवान्

---

* 'भगवान् वेद' की जगह 'भगवन् वेत्थ' यह पाठान्तर भी है ॥

(अमर होने के विषय में) जानते हैं, वही मुझे बतलाएं ॥ ४ ॥
याज्ञवल्क्य ने कहा—' तुमने हमारी प्यारी हो कर प्रिय बढ़ाया है * अहो भवति ! मैं तेरे लिये इस की व्याख्या करूंगा, और तू जो मैं व्याख्यान करता हूं उस पर पूरा २ ध्यान दे ॥५॥

स होवाच –' न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भव-

---

* अर्थात् तूने वह बात पूछी है, जो मुझे प्यारी है, क्योंकि इस में तुम्हारा कल्याण है; माध्यन्दिनपाठ 'अवृधत्' की जगह अवृतत् ' है ॥

न्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳसर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

उस ने कहा–'हे मैत्रेयि ! पति की कामना के लिये पति प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पति प्यारा होता है । हे मैत्रेयि ! पत्नी की कामना के लिये पत्नी प्यारी नहीं होती, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पत्नी प्यारी होती है । हे मैत्रेयि ! पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्यारे होते हैं । हे मैत्रेयि ! धन की कामना के लिये धन प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये धन प्यारा होता है । हे मैत्रेयि ! पशुओं की कामना के लिये पशु प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये पशु प्यारे होते हैं । हे मैत्रेयि ! ब्रह्म (ब्राह्मणत्व) की कामना के लिये ब्रह्म प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये ब्रह्म प्यारा होता है । हे मैत्रेयि ! क्षत्र (क्षत्रियत्व) की कामना के लिये क्षत्र प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये क्षत्र प्यारा होता है । हे मैत्रेयि ! लोकों की कामना के लिये लोक प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये लोक प्यारे होते हैं । हे मैत्रेयि ! देवताओं की कामना के लिये देवता प्यारे नहीं

होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये देवता प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! वेदों की कामना के लिये वेद प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये वेद प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! भूतों की कामना के लिये भूत प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये भूत प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयि ! हरएक वस्तु की कामना के लिये हरएक वस्तु प्यारी नहीं होती, किन्तु आत्मा की कामना के लिये हरएक वस्तु प्यारी होती है। निःसन्देह हे मैत्रेयि ! आत्मा साक्षात् देखने योग्य है, (शास्त्र से) सुनने योग्य है, (युक्ति से) मनन करने योग्य है, और (समाधि से) निदिध्यासन करने (ध्यान देने) योग्य है । हे मैत्रेयि ! जब आत्मा को साक्षात् देख लिया, सुन लिया, मनन कर लिया और जान लिया, तब यह सब कुछ जान लिया है ॥ ६ ॥

ब्रह्म तं परादाद्, योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद । क्षत्रं तं परादाद्, योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद । लोकास्तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद । देवास्तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद । वेदास्तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो वेदान् वेद । भूतानि तं परादुः, योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद । सर्वं तं परादाद्, योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद । इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रम्, इमे लोकाः, इमे देवाः, इमे वेदाः, इमानि भूतानि इदं सर्वम्, यदयमात्मा ॥ ७ ॥ स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणत्व उसको परे हटा देता है, जो आत्मा से अन्यत्र (किसी दूसरे के आश्रय) ब्राह्मणत्व को जानता है । क्षत्रियत्व उस को परे हटा देता है, जो आत्मा से अन्यत्र क्षत्रियत्व को जानता है । लोक उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्यत्र लोकों को जानता है । देवता उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्यत्र देवताओं को जानता है । वेद उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्यत्र वेदों को जानता है । प्राणधारी उस को परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्यत्र प्राणधारियों को जानता है । हर एक वस्तु उस को परे हटा देती है, जो आत्मा से अन्यत्र हर एक वस्तु को जानता है । यह ब्राह्मणत्व, यह क्षत्रियत्व, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये प्राणधारी, यह हर एक वस्तु, यही है, जो यह आत्मा है * ॥ ७ ॥ जैसे दुन्दुभि जब ताडी जारही है, तो उस के बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सकते †, पर दुन्दुभि के पकड़ने से वा दुन्दुभि के ताड़ने वाले के पकड़ने से (दुन्दुभि का हर एक) शब्द पकड़ा जाता है ॥ ८ ॥

स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय, वीणाया तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

---

* यह सारे आत्मा के आश्रय हैं, उसी में अपनी सत्ता दिखलाते हैं ॥ † अक्षरार्थ—कोई नहीं पकड़ सके ।

और जैसे शंख जब पूरा जारहा है, तो उस के बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सकते, पर शंख के पकड़ने से वा शंख को पूरने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥ ९ ॥ और जैसे वीणा जब बजाई जारही है, तो उस के बाहरले शब्दों को नहीं पकड़ सकते, पर वीणा के पकड़ने से वा वीणा बजाने वाले के पकड़ने से शब्द पकड़ा जाता है ॥ १० ॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्, यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ ११ ॥

जैसा गीली लकड़ियों की आग जब जल रही हो, तो उस से अलग धुएं निकलते हैं, इसी प्रकार इस बड़ी सत्ता का यह बाहर सांस लिया हुआ है, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्याएं, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञ की वस्तु, होम की वस्तु, खाने की वस्तु, पीने की वस्तु, यह लोक और दूसरा लोक और हर एक प्राणी, ये सब इसी के ही बाहर सांस लिये हुए हैं ॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाꣳसमुद्र एकायनम्, एवꣳसर्वेषाꣳस्पर्शानां त्वगेकायनम्, एवꣳसर्वेषां गन्धानां नासिके

एकायनम्, एवꣳसर्वेषांꣳरसानां जिह्वैकायनम्, एवꣳसर्वेषांꣳरूपाणां चक्षुरेकायनम्, एवꣳसर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनम्, एवꣳसर्वेषाꣳसंकल्पानां मन एकायनम्, एवं सर्वासां विद्यानाꣳहृदय मेकायनम्, एवꣳसर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनम्, एवꣳसर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्, एवꣳसर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनम्, एवꣳसर्वेषामध्वनां पादावेकायनम्, एवꣳसर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥१२॥

जैसे सारे जलों का समुद्र, एक आश्रय है, (एक गति है, सारे जल समुद्र की ओर जाते हैं); इसी प्रकार सारे स्पर्शों का त्वचा एक आश्रय है,इसी प्रकार सारे गन्धों का नासिकाएं एक आश्रय हैं, इसी प्रकार सारे रसों का ज़िह्वा एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे रूपों का आंख एक आश्रय है,इसी प्रकार सारे संकल्पों का मन एक आश्रय है, इसी प्रकार सारी विद्याओं का हृदय एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे कर्मों का हाथ एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे आनन्दों का उपस्थ एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे (मल) त्यागों का गुदा एक आश्रय है, इसी प्रकार सारे मार्गों (हरएक बाट) का पाओं एक आश्रय हैं, इसी प्रकार सारे वेदों का बाणी एक आश्रय है ॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति । न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमि ' इति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१३॥

जैसे लवण का ढेला, न उस के कुछ अन्दर है, न बाहर है, किन्तु यह सारा इकट्ठा एक रस का ढेला ही है, इसी प्रकार हे मैत्रेयि! यह आत्मा है, न कुछ इस के अन्दर है, न बाहर है, यह सम्पूर्ण एक विज्ञानघन (विज्ञान का ढेला) ही है; यह इन (महा) भूतों से उठ कर (प्रकट हो कर) इन्हीं में छिप जाता है * मरने के पीछे कोई पता (नाम, निशान) नहीं है, यह मैं कहता हूं, हे मैत्रेयि! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ १३ ॥

सा होवाच मैत्रेयी–'अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपिपन्, न वा अहमिदं विजानामि' इति । स होवाच–'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥

तब मैत्रेयी ने कहा–'भगवन्! यहां ही मुझे आपने घबराहट में डाल दिया है, मैं निःसन्देह इसको नहीं समझी'॥ उसने कहा–'हे मैत्रेयि! मैं निःसन्देह घबराहट की बात नहीं कहता हूं, आत्मा अविनाशी है, न उखड़ना (नष्ट न होना) इस का स्वभाव है' † ॥ १४ ॥

---

* अभिप्राय यह है, जैसे परदे से निकल कर नट अपना खेल खेलकर फिर परदे में छिप जाता है, इसी तरह यह आत्मा फिर अपने परदे में छिप जाता है।

† 'मरने के पीछे कोई पता नहीं है' इस वचन को सुन कर मैत्रेयी को यह भ्रम हो गया था, कि क्या याज्ञवल्क्य का यह अभिप्राय तो नहीं, कि आत्मा सर्वथा नष्ट हो जाता

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरꣳरसयते, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरꣳशृणोति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरꣳस्पृशति, तदितर इतरं विजानाति: यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत् केन कꣳरसयेत्, तत्केन कमभिवदेत्, तत्केन कꣳशृणुयात्, तत्केन कं मन्वीत, तत्केन कꣳस्पृशेत्, तत्केन कं विजानीयाद्, येनेदꣳसर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते,अशीर्यो नहि शीर्यते,असङ्गो नहि सज्यते, असितो न व्यथते न रिष्यति। विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्, इत्युक्ताऽनुशासनाऽसि मैत्रेयि! एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

क्योंकि जहां द्वैत सा होता है, वहां दूसरा दूसरे को देखता है, वहां दूसरा दूसरे को सूंघता है, वहां दूसरा दूसरे को चखता है, वहां दूसरा दूसरे से बोलता है, वहां दूसरा दूसरे की सुनता है, वहां दूसरा दूसरे को समझता है, वहां दूसरा दूसरे को छूता है, वहां दूसरा दूसरे को जानता है, पर जब यह सब आत्मा ही हो गया, तो किस से किस को देखे, किस से किस को सूंघे, किस से किस को चखे, किस

है? सो इस लिए उसने यह बात याज्ञवल्क्य से स्पष्ट कराली, कि आत्मा कभी नष्ट नहीं होता है।

से किस को बुलाए, किस से किस को सुने, किस से किस को समझे, किस से किस को छुए, किस से किस को जाने ? जिस से इस सब को जानता है, उस को किस से जाने ? यह आत्मा जिस का वर्णन नेति नेति * है । वह पकड़ने योग्य नहीं क्योंकि वह पकड़ा नहीं जाता; वह अटूट्य है, क्योंकि वह तोड़ा नहीं जाता; वह असङ्ग है, क्योंकि वह किसी के साथ जुड़ता नहीं, वह बन्धन रहित है, न वह पीड़ित होता है, न फिसलता है । हे (प्रिये) जानने वाले को किस से जाने ? बस हे मैत्रेयि ! तुझे शिक्षा पूरी देदी है, इतना ही हे प्रिये ! अमृतत्व है ' यह कह कर याज्ञवल्क्य (जङ्गल को) चला गया ॥ १५ ॥

छटा-ब्राह्मण ॥

अथ वंशः-पौतिमाष्यो गौपवनाद्, गौपवनः पौतिमाष्यात्, पौतिमाष्यो गौपवनाद्, गौपवनः कौशिकात्, कौशिकः कौण्डिन्यात्, कौण्डिन्यः शाण्डिल्यात्, शाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च, गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्याद्, आग्निवेश्यो गार्ग्याद्, गार्ग्यो गार्ग्याद्, गार्ग्यो गौतमाद्, गौतमः सैतवात्, सैतवः पाराशर्यायणात्, पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्, गार्ग्यायण उद्दालकायनाद्, उद्दालकायनो जाबालायनाद्, जाबालायनो माध्यन्दिनायनाद्, माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्, सौकरायणः काषायणात्, काषायणः साय-

* देखो-बृह० उप० ३ । ६ । २६, ४ । २ । ४; ४।४।२२ ॥

कायनात्, सायकायनः कौशिकायनेः, कौशिकायनिः ॥२॥ घृतकौशिकाद्, घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्, पाराशर्यायणः पाराशर्यात्, पाराशर्यो जातूकर्ण्याद्, जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्च, आसुरायणस्त्रैवणेः, त्रैवणिरौपजन्धनेः, औपजन्धनिरासुरेः, आसुरिर्भारद्वाजाद्, भारद्वाज आत्रेयाद्, आत्रेयो माण्टेः, माण्टिर्गौतमाद्, गौतमो वात्स्याद्, वात्स्यः शाण्डिल्यात्, शाण्डिल्यः कैशोर्यात् काप्यात्, कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्, कुमारहारितो गालवाद्, गालवो विदर्भी-कौण्डिन्याद्, विदर्भी कौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्, वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्, पन्थाः सौभरोऽयास्यादांगिरसाद्, अयास्य आंगिरस आभूतेस्त्वाष्ट्राद्, आभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात् त्वाष्ट्राद्, विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्याम्, अश्विनौ दधीच आथर्वणाद्, दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवाद्, अथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनाद्, मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्, प्रध्वꣳसन एकर्षेः, एकर्षिर्विप्रचित्तेः, विप्रचित्तिर्व्यष्टेः, व्यष्टिः सनारोः, सनारुः सनातनात्, सनातनः सनगात्, सनगः परमेष्ठिनः, परमेष्ठी ब्रह्मणः, ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अब वंश * (कहते हैं)-(१) पौतिमाष्य ने गौपवन से (सीखा) (२) गौपवन ने पौतिमाष्य से, (३) पौतिमाष्य ने गौपवन से, (४) गौपवन ने कौशिक से, (५) कौशिक ने कौण्डिन्य से, (६) कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, (७) शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से, (८) गौतम ने ॥ १ ॥ आग्निवेश्य से, (६) आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, (१०) गार्ग्य ने गार्ग्य से, (११) गार्ग्य ने गौतम से, (१२) गौतम ने सैतव से, (१३) सैतव ने पाराशर्यायण से, (१४) पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से (१५) गार्ग्यायण ने उद्दालकायण से, (१६) उद्दालकायण ने जाबालायन से, (१७) जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, (१८) माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, (१६) सौकरायण ने काषायण से, (२०) काषायण ने सायकायन से, (२१) सायकायन ने कौशिकायनि से, (२२) कौशिकायनि ने ॥२॥ घृतकौशिक से, (२३) घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से (२४) पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, (२५) पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से

---

* गुरु शिष्य की परम्परा का वंश अर्थात् जिस क्रम से याज्ञवल्क्य काण्ड ऊपर से उपनिषत्कार तक पहुंचा है ॥ १—६ तक का वंश बृह० उप० २ । ६ के साथ मिलता है । फिर २१ वें वंश में कथित कौशिकायनि से आरम्भ करके सारा उस के साथ मिलता है ।

माध्यन्दिन पाठ में सब से पहले 'वयम्' हम, है अर्थात् हमने पौतिमाष्य से पढ़ा । माध्यन्दिन वंश में कुछ नामों का भेद भी है ॥

जातूकर्ण्य ने आसुरायण से, और यास्क से, (२७) आसुरायण ने त्रैवणि से, (२८) त्रैवणि ने औपजन्धनि से, (२९) औपजन्धनि ने आसुरि से, (३०) आसुरि ने भारद्वाज से, (३१) भारद्वाज ने आत्रेय से, (३२) आत्रेय ने माण्टि से, (३३) माण्टि ने गौतम से, (३४) गौतम ने गौतम से, (३५) गौतम ने वात्स्य से, (३६) वात्स्य ने शाण्डिल्य से, (३७) शाण्डिल्य ने कैशोर्य-काप्य से, (३८) कैशोर्य-काप्य ने कुमारहारित से, (३९) कुमारहारित ने गालव से, (४०) गालव ने विदर्भी-कौण्डिन्य से, (४१) विदर्भी-कौण्डिन्य ने वत्सनपात्-बाभ्रव से, (४२) वत्सनपात्-बाभ्रव ने पथि-सौभर से, (४३) पथि-सौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, (४४) अयास्य आङ्गिरस ने आभूति-त्वाष्ट्र से, (४५) आभूति-त्वाष्ट्र ने विश्वरूप-त्वाष्ट्र से, (४६) विश्वरूप-त्वाष्ट्र ने अश्वियों से, (४७) अश्वियों ने दध्यङ्-आथर्वण से, (४८) दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वा-दैव से, (४९) अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वंसन से, (५०) मृत्यु-प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, (५१) प्रध्वंसन ने एकर्षि से, (५२) एकर्षि ने विप्रचित्ति से, (५३) विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, (५४) व्यष्टि ने सनारु से, (५५) सनारु ने सनातन से, (५६) सनातन ने सनग से, (५७) सनग ने परमेष्ठी से, (५८) परमेष्ठी ने ब्रह्म से, (५९) ब्रह्म स्वयम्भु (अपने आप हस्ती) है ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ३ ॥

पांचवां अध्याय—पहला ब्राह्मण ॥

संगति--पहले चार अध्यायों में ब्रह्मविद्या पूर्ण कह दी है। अब यह खिल काण्ड आरम्भ होता है। इस में पूर्व न कही हुई उपासनाएं और ब्रह्म प्राप्ति के भिन्न २ प्रकार के साधन वर्णन किये हैं :-

ओं पूर्ण मदः पूर्ण मिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥

ओं खं ब्रह्म। खं पुराणं, वायुरं ख मिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणी पुत्रः। वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुः। वेदैनेन यद्वे-दितव्यं ॥१॥

पूर्ण * है वह (ब्रह्म), पूर्ण है यह (जगत्), पूर्ण से पूर्ण निकलता है। उस पूर्ण की पूर्णता को लेकर यह पूर्ण ही बाकी रहता है † ॥ ओम् आकाश ब्रह्म है। आकाश यहां वह है, जो पुराना (सनातन) है, 'आकाश वह है जो यह वायु वाला है' यह कौरव्यायणी के पुत्र ने कहा ‡। यह (ओम्)

---

* जिस में कोई कमी नहीं ॥

† जो आप पूर्ण है, उस की रचना में त्रुटि नहीं होती। और यह मनुष्य जब उस पूर्ण की पूर्णता का सहारा लेता है, तो इस में की भी सारी त्रुटियें दूर हो जाती हैं और यह पूर्ण ही बाकी रहता है। यह और 'ओं खं ब्रह्म' ये दोनों मन्त्र हैं ॥

‡ ओम्, ख, और ब्रह्म ये तीनों परमात्मा के नाम हैं। ओम् और ब्रह्म ये दोनों तो निर्विवाद ब्रह्म के नाम हैं। और

वेद है, ऐसा ब्रह्मवादी जानते हैं। (क्योंकि) मनुष्य इस (ओम्) से जान लेता है, जो कुछ जानने योग्य है ॥ १ ॥

दूसरा ब्राह्मण ॥

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य मूषुर्देवा मनुष्या असुराः। उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुः 'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो ह तदक्षरमुवाच 'द' इति 'व्यज्ञासिष्टा३' इति। 'व्यज्ञासिष्म' इति होचुः। 'दाम्यतेति न आत्थ' इति। ओमिति होवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति ॥१॥

तीन प्रकार की प्रजापति की सन्तान—देवता, मनुष्य और असुर, अपने पिता प्रजापति के पास ब्रह्मचारी बन कर रहे। ब्रह्मचर्यवास करने के पीछे देवताओं ने कहा–'आप हमें उपदेश दें, उन को (प्रजापति ने) यह अक्षर बतलाया 'द' (और कहा) 'तुमने जान लिया' उन्होंने कहा, 'हां जान लिया, आपने हमें यह बतलाया है कि 'दाम्यत'=अपने आप को वश में रक्खो। उसने कहा–हां ठीक तुमने जान लिया है ॥१॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुः–'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच 'द' इति। 'व्यज्ञासिष्टा३' इति।

ख को भी आचार्यों ने पुराण पुरुष परमात्मा का नाम माना है कौरव्यायणी पुत्र 'ख' का अर्थ आकाश लेता है। तब अभिप्राय यह होगा। आकाशवत् व्यापक ब्रह्म ॥

'व्यज्ञासिष्म' इति होचुः । 'दत्तेति न आत्थ' इति । 'ओमिति' होवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति ॥ २ ॥

अब इस को मनुष्यों ने कहा-'आप हमें उपदेश दें'। उन को उस ने यह अक्षर बतलाया 'द्' (और कहा) 'तुमने जान लिया'। उन्होंने कहा-'हां जान लिया। आपने हमें यह बतलाया है, दत्त=दो। उसने कहा हां 'तुमने जान लिया है'॥२॥

अथ हैनमसुरा ऊचुः-'ब्रवीतु नो भवान्' इति। तेभ्यो-हैतदक्षरमुवाच 'द्' इति। 'व्यज्ञासिष्टा३' इति। व्यज्ञा-सिष्म' इति होचुः 'दयध्वमिति न आत्थ' इति। ओमि-ति होवाच 'व्यज्ञासिष्ट' इति। तदेतदेवैषा दैवी वागनुव-दति स्तनयित्नुः 'द द द' इति। दाम्यत, दत्त, दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

अब उसे असुरों ने कहा-'आप हमें उपदेश दें'। उनको उस ने यह अक्षर बतलाया 'द्' (और कहा) 'तुमने जान लिया' उन्हों ने कहा 'हां जान लिया, आपने हमें कहा है 'दया करो' (दयध्वम्) उस ने कहा 'हां तुम ने जान लिया है'॥ यही (प्रजापति का शासन) यह गर्जते हुए मेघ की दैवी वाणी अनुवाद करती है, 'द द द' अर्थात् अपने आप को वस में रक्खो, दो और दया करो। इस लिए (पिता पुत्र को, वा गुरु ब्रह्मचारी को) ये तीनों बातें सिखाए, दम (अपने आप को वश में रखना) दान और दया * ॥ ३ ॥

* ये तीनों साधन सब उपासनाओं का अङ्ग हैं। इस लिए उपासनाओं के आदि में दिखला दिये हैं।

तीसरा ब्राह्मण ॥

एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्, एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम् तदे-तत्त्र्यक्षरꣳहृदयमिति ! हृइत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च, य एवं वेद । द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वा-श्चान्ये च, य एवं वेद । यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गलोकं, य एवं वेद ॥ १ ॥

यह प्रजापति है, जो हृदय है । यह ब्रह्म (की प्राप्ति का साधन) है, यह सब कुछ है । सो यह तीन अक्षरों वाला है। हृ-द-य 'हृ' यह एक अक्षर है । जो इस (अक्षर के रहस्य) को जानता है, उस की ओर अपने और बेगाने सब भेंटा लाते हैं। 'द' यह एक अक्षर है, जो इस को जानता है, उस को अपने और बेगाने देते हैं। 'य' यह एक अक्षर है, जो इस को जानता है, वह स्वर्गलोक को जाता है * ॥ १ ॥

---

* हृदय, 'हृ, दा और इण' इन धातुओं के हृ+द+य अक्षरों के मेल से बना है। ऐसा जान कर हृदय की उपासना करने वाले को यह तीन फल अलग २ धातुओं के सहारे दिख-लाए, हैं-अभि हरन्ति=भेंट लाते हैं, ददति=देते हैं और एति= जाता है ॥

हृदय के पक्ष में अपने अर्थात् इन्द्रिय और बेगाने अर्थात् शब्द आदि विषय हैं। ये अपना २ कार्य्य हृदय की भेंट करते हैं और अपना २ बल हृदय को देते हैं । हृदय आगे आत्मा को देता है (शङ्कराचार्य्य) ॥

चौथा ब्राह्मण ॥

तद्वै तदेतदेव तदास, सत्यमेव । स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्, य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति। सत्यं ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

यह (हृदय) निःसन्देह वही है, जो यह सत्य * (ब्रह्म) है । और जो इस बड़े, पूजनीय (हस्ती), और सब से पहले प्रकट होने वाले को सत्य ब्रह्म के तौर पर जानता है, वह इन लोकों को जीतता है, और वह (शत्रु) भी उस का इसी प्रकार जीता हुआ है, † जो इस प्रकार इस बड़े पूजनीय और पहले प्रकट होने वाले को सत्य ब्रह्म के तौर पर जानता है; क्योंकि ब्रह्म सत्य है ॥ १ ॥

पांचवां ब्राह्मण ॥

आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं

---

* सत्य=असली हस्ती, न कि सचाई । शंकराचार्य्य ने यहां सत्य से वही अभिप्राय लिया है जो २।३।१ में वर्णन है अर्थात् सत्+त्य=मूर्त अमूर्त रूप पांच भूत जानना चाहिये ॥

† जो लोकों को जीत लेता है, शत्रु तो उस के वश में जानना चाहिये; शंकराचार्य्य ने यहां 'यथा ब्राह्मणोऽसौ शत्रुः' यह वाक्य शेष करके 'इन्नु=इत्थं' के साथ सम्बन्ध दिया है । पर वस्तुतः यहां य एवं... के साथ सम्बन्ध होने से वाक्य शेष की आवश्यकता नहीं रहती ॥

ब्रह्म । ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान् । ते देवाः सत्यमेवोपासते । तदेतत्त्र्यक्षरꣳसत्यमिति । स इत्येकमक्षरं । तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं । प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं । तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳसत्यभूयमेव भवति । नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳहिनस्ति ॥ १ ॥

आरम्भ में यह (जगत्) जल (महत् तत्व) ही था। उन जलों ने सत्य * को प्रकट किया और सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म ने प्रजापति (विराट्) को, और प्रजापति ने देवताओं को (प्रकट किया)। वे देवता केवल सत्य को उपासते हैं। यह जो 'सत्य' है । इस के तीन अक्षर हैं (स + ति + य) † । 'स' यह एक अक्षर है 'ति' यह एक अक्षर है और 'य' यह एक अक्षर है। पहला और अन्त का अक्षर सत्य हैं। मध्य का अनृत (झूठ) है ‡। सो यह अनृत (झूठ) दोनों ओर से

---

* प्रथमज हिरण्यगर्भ ॥

† संयोगान्त य से पूर्व इ और व से पूर्व उ उच्चारण करते हैं । इस रीति से सत्यं यह 'स-ति-यम्' इस प्रकार तीन अक्षर के तौर पर उच्चारण किया है। देखो छान्दोग्य उप० ८।३।५। तै० उप० २।६। शंकराचार्य्य दूसरे को केवल 'त्' मान कर उस के आगे 'इ' को अनुबन्ध मानते हैं ॥

‡ शंकराचार्य्य ने इस की व्याख्या इस तरह की है। मध्य का अक्षर 'त्' तो मृत्यु और अनृत में पाया जाता है इस लिए वह अनृत है। स ' ' और 'य' मृत्यु शब्द में नहीं

सत्य से घिरा हुआ सत्य प्राय ही होता है। ऐसा जानने वाले की झूठ हिंसा नहीं करता ॥ १ ॥

तद् यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्यः, य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ, रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन्। स यदोत्क्रामिष्यन् भवति, शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति। नैन मेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २ ॥

यह जो सत्य है, यही वह आदित्य है, जो यह इस मण्डल (गोले) में पुरुष है, और जो यह दाईं आंख में पुरुष है। ये दोनों एक दूसरे में रहते हैं। यह (सूर्य) अपनी किरणों के द्वारा इस में (अक्षि पुरुष में) रहता है, और यह (अक्षि-पुरुष) प्राणों (इन्द्रियों) के द्वारा उस में (रहता है)। जब यह (इस शरीर से) निकलने को होता है, तब केवल शुद्ध (किरणों से खाली) ही मण्डल को देखता है। ये रश्मियें इस के पास वापिस नहीं आती हैं ॥ २ ॥

य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, तस्य भूरितिशिरः, एकꣳशिर एकमेतदक्षरम्; भुव इति बाहू, द्वौ बाहू, द्वे एते अक्षरे; स्वरिति प्रतिष्ठा, द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे। तस्योपनिषदहरिति, हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३॥

पाए जाते, इसलिए ये सत्य हैं। द्विवेदगङ्ग ने 'स + ति + यम्' ये तीन अक्षर रख कर लिखा है कि 'स्' और 'यम्' का तो कोई अक्षर मृत्यु वा अनृत के साथ सांझा नहीं और 'ति' का 'त्' मृत्यु और अनृत के साथ सांझा है।

अब जो यह इस मण्डल में पुरुष है, भूः उस का सिर है, क्योंकि सिर एक है और यह अक्षर एक है; भुवः उस की भुजाएं हैं, क्योंकि भुजाएं दो हैं, और यह अक्षर दो हैं, स्वः * ये पाओं हैं, क्योंकि पाओं दो हैं, और यह अक्षर दो हैं। उस की उपनिषद् गुप्त नाम) अहः (दिन) है, जो ऐसा जानता है, वह बुराई को नष्ट करता है (हन्ति) और छोड़ता है (जहाति)† ॥३॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तस्यभूरितिशिरः, एकᳬ शिर एकमेतदक्षरम्, भुव इति बाहू, द्वौ बाहू, द्वे एते अक्षरे, स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे, द्वे एते अक्षरे । तस्योपनिषद-हमिति, हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥

यह जो दाईं आंख में पुरुष है, भूः उसका सिर है, क्योंकि सिर एक है, और यह अक्षर एक है; भुवः भुजाएं हैं, क्योंकि भुजाएं दो हैं, और ये अक्षर दो हैं। स्वः ये पाओं हैं, क्योंकि पाओं दो हैं और ये अक्षर दो हैं। उसकी उपनिषद (गुप्त नाम) अहम् (मैं) है। जो ऐसा जानता है वह बुराई को नष्ट करता है और छोड़ता है ॥ ४ ॥

छटा ब्राह्मण ॥

मनोमयोऽयं पुरुषः भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा

---

* स्वः को सुवः उच्चारण करते हैं ॥

† हन् (हन्ति) और ओहाक् (जहाति) से 'अहः' मान कर ये दोनों फल दर्शाए हैं।

व्रीहिर्वा यवो वा । स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १ ॥

मनोमय (मन का अधिष्ठाता) यह पुरुष प्रकाशस्वरूप * हृदय के अन्दर धान वा जौ की नाईं (छोटा सा) है। यह सब पर ईशन करने वाला सब का अधिपति है–वह उस सब पर ईशन करता है, जो कुछ यह है ॥ १ ॥

सातवां ब्राह्मण।

विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः–विदानाद्विद्युद् । विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति । विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

कहते हैं विद्युत् (बिजली) ब्रह्म है, विद्युत् काटने से है †। जो ऐसा जानता है कि विद्युत् ब्रह्म है, वह इस को (आत्मा को) बुराई से काट देता है। क्योंकि विद्युत् निःसन्देह ब्रह्म है ॥ १ ॥

आठवां ब्राह्मण।

वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः । तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उप-

---

* 'भाः सत्यः' एक पद है भाः सत्यः सद्भावः स्वरूपं यस्य सः भास्वर इत्येतत् ।

† दो अवखण्डने=काटने, से विद्युत् है, विद्युत् मेघों के अन्धकार को काट देती है जैसा कि ब्रह्म जब जाना जाता है, तो अविद्या के अन्धकार को काट देता है ॥

जीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च, हन्तकारं मनुष्याः, स्वधाकारं पितरः । तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥१॥

वाणी को धेनु (गौ) के तौर पर उपासना चाहिये। उस के चार स्तन हैं स्वाहा, वषट्, हन्त और स्वधा। देवता उस के स्वाहा, और वषट्, इन दो स्तनों पर जीविका करते हैं, मनुष्य हन्त पर, और पितर स्वधा पर * । प्राण उस (गौ) का सांड है और मन बछड़ा है ॥ १ ॥

नवां ब्राह्मण ।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते । तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति । स यदोत्क्रमिष्यन् भवति, नैनं घोषꣳशृणोति ॥ १ ॥

वैश्वानर अग्नि यह है जो यह पुरुष के अन्दर है, जिस से यह अन्न पकता है (=जीर्ण होता है) जो यह खाया जाता है। उस की ध्वनि (आवाज़) यह है, जिस को कान बन्द करके मनुष्य सुनता है । जब (मनुष्य इस देह से) निकलने को तय्यार होता है, तब वह इस ध्वनि को नहीं सुनता है ॥१॥

---

* स्वाहा और वषट् ये दो स्तन हैं जिन पर देवता निर्वाह करते हैं अर्थात् इन दो शब्दों से देवताओं को हवि देते हैं, हन्त शब्द से मनुष्यों को देते हैं (हन्त से हन्ता वा हन्दा प्रसिद्ध हुआ है) और स्वधा शब्द से पितरों को देते हैं ॥

दसवां ब्राह्मण ।

संगति—पूर्व कही सब उपासनाओं की गति और फल दिखलाते हैं :—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति, स वायुमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते। स आदित्यमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते। स चन्द्रमसमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा दुन्दुभेः खं, तेन स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं । तस्मिन् ऊर्ध्व आक्रमते स वसति शाश्वतीःसमाः ॥ १ ॥

जब पुरुष इस लोक से चल देता है,तो वह वायु में पहुंचता है। तब वह उस के लिये छेद वाला हो जाता है (जगह देता है) जितना कि रथ के पहिये का छेद होता है, उस से वह ऊपर चढ़ता है। वह सूर्य में पहुंचता है। तब सूर्य उस के लिये जगह देता है, जितना कि लम्बर * का छेद होता है, उस से यह ऊपर चढ़ता है, वह चन्द्र में आता है । उस के लिये वह (चन्द्र) वहां जगह देता है, जितना कि दुन्दुभि का छेद होता है, उस में वह ऊपर चढ़ता है, वह उस लोक (प्रजापति लोक) में पहुंचता है जहां न शोक है न हिम है † । वहां वह अनन्त बरस रहता है ॥ १ ॥

---

* लम्बर एक प्रकार का बाजा है ।

† शोक नहीं अर्थात् कोई मानस दुःख नहीं और बर्फ नहीं अर्थात् शारीरिक दुःख नहीं (शंकराचार्य) ॥

ग्यारहवां ब्राह्मण ।

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते । परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद । एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳहरन्ति । परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेद । एतद्वै परमं तपो, यं प्रेतमग्नावभ्यादधति । परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

यह परम (सब से बढ़ कर) तप है जो रोगी हो कर तपता है (दुःख भोगता है) । जो ऐसा जानता है, वह परम लोक को जीतता है * । यह परम तप है, जो मरे हुए को जङ्गल की ओर ले जाते हैं † । जो यह जानता है, वह परम लोक को जीतता है । यह परम तप है, जो मरे हुए को आग पर रखते हैं ‡ । जो यह जानता है, वह परम लोक को जीतता है ॥ १ ॥

बारहवां ब्राह्मण ।

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः, तन्न तथा, पूयति वा अन्नमृते

---

* अभिप्राय यह है, कि उपासक बीमारी को तप समझे, न निन्दे, न निराश हो । और उस के दुःख को ऐसा ही ध्यान करे, जैसा तप करने में दुःख होता है । जो ऐसा ध्यान करता है, वह इस दुःख से वही फल लाभ करता है, जो उस को बड़ा भारी तप करने में दुःख उठाने का होता है ।

† यह तप उस तप के बराबर है, जो ग्राम को छोड़ कर जङ्गल में रहना है ॥

‡ यह उस तप के बराबर है, जो पञ्चाग्नि तपना है ॥

प्राणात् । प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुः, तन्न तथा, शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात् । एते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतः तद्धस्माह प्रातृदः पितरं—'किꣳ स्विदेवैवंविदुषे साधु कुर्यां, किमेवास्मा असाधु कुर्याम्' इति । स हस्माऽऽह पाणिना—'मा प्रातृद कस्त्वेनयो रेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छति' इति । तस्मा उ हैतदुवाच 'वीति' अन्नं वै वि, अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि । रमिति, प्राणो वै रं, प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते । सर्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति, सर्वाणि भूतानि रमन्ते, य एवं वेद ॥ १ ॥

कई कहते हैं अन्न ब्रह्म है, पर यह ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्न प्राण के बिना गल जाता है । दूसरे कहते हैं प्राण ब्रह्म है, पर यह ऐसा नहीं है, क्योंकि प्राण बिना अन्न के सूख जाता है । सो ये दोनों देवता (अन्न और प्राण) एक हो कर परमता (ब्रह्मता) को प्राप्त होते हैं । इस पर प्रातृद ने पिता को कहा—'क्या मैं उस के लिये कोई भलाई कर सकता हूं जो यह जानता है, या इस के लिये कोई बुराई कर सकता हूं' * ? पिता ने उसे कहा हाथ से (रोकते हुए)—'मत प्रातृद, क्योंकि कौन इन दोनों (देवताओं) की केवल एकता को पाकर परमता को प्राप्त होता है'? उस ने कहा 'वि'। अन्न निःसन्देह वि

---

* क्या वह ऐसा पूर्ण नहीं है, कि हानि लाभ उस पर कोई असर नहीं डाले ।

है, क्योंकि ये सारे प्राणधारी अन्न पर रहते हैं (विशन्ति) '। (तब उसने कहा) ' रम् ' प्राण निःसन्देह ' रम् ' है, क्योंकि सारे प्राणधारी प्राण (जीवन) में खुश रहते हैं (रमन्ते) '। सारे प्राणधारी उस पर रहते हैं (सहारा लेते हैं), सारे प्राणधारी उस में खुश होते हैं, जो यह जानता है ' ॥ १ ॥

तेरहवां ब्राह्मण ।

उक्थम् । प्राणो वा उक्थं, प्राणो हीद्ँ सर्वमुत्थापयति । उद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठति, उक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

उक्थ *—प्राण निःसन्देह उक्थ है, क्योंकि प्राण इस सब को उठाता है (उत्थापयति)। जो ऐसा जानता है, उस से, उक्थ का जानने वाला वीरपुत्र उठता है (जन्मता है), और वह स्वयं उक्थ की सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥१॥

यजुः । प्राणो वै यजुः, प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते । युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय, यजुषः सायुज्यँ सलोकतां जयति, य एवं वेद ॥२॥ साम । प्राणो वै साम । प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि। सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते, साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

---

* अर्थात् जो उक्थ नाम मन्त्र हैं, उन पर ध्यान करना। उक्थ शस्त्र महाव्रत में प्रधान अङ्ग है । उक्थ का वर्णन कौषी० उ० ३ । ३; ऐत० आ० २।२। यहां उक्थ, यजु, साम इत्यादि को प्राण रूपं (व्यष्टि ब्रह्म के रूपों) में ध्यान करने का उपदेश है ॥

यजु । प्राण निःसन्देह यजु है, क्योंकि प्राण में ये सारे प्राणधारी जुड़ते हैं * । जो यह जानता है, सारे प्राणधारी इस की श्रेष्ठता के लिये जुड़ते हैं, और वह यजु की सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ २ ॥ साम । प्राण साम है, क्योंकि प्राण में ये सारे प्राणधारी मिलते हैं । जो यह जानता है, सारे प्राणधारी मिल कर इस की श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं, और वह साम के सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ ३ ॥

क्षत्रं । प्राणो वै क्षत्रं,प्राणो ह वै क्षत्रं।त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः । प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति, क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

क्षत्र । प्राण निःसन्देह क्षत्र है । क्योंकि प्राण क्षत्र है, अर्थात् प्राण इस को क्षति से बचाता है । जो यह जानता है, वह उस क्षत्र (बल) को प्राप्त होता है, जो किसी दूसरे से रक्षा नहीं चाहता, † और वह क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को जीतता है ॥ ४ ॥

---

* बिना प्राण के किसी से किसी के जुड़ने=साथी बनने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये यजु प्राण कहलाता है, मानो प्राण यजु है ॥

† माध्यन्दिन पाठ क्षत्र मात्र है, वह क्षत्र के स्वभाव को प्राप्त होता है या उस क्षत्र को प्राप्त होता है जो रक्षा करने वाला है (द्विवेद गङ्ग) ॥

चौदहवां ब्राह्मण।

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् । स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति, योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥ ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरꣳह वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् । स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति, योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥२॥ प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराणि । अष्टाक्षरꣳह वा एकं गायत्र्यै पदम् । एतदु हैवास्या एतत् । स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति, योऽस्या एतदेवं पदं वेद । अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति । यद्वै चतुर्थं तत् तुरीयं, दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येषः, परोरजा इति सर्वमुह्येवैष रज उपर्युपरि तपति । एवꣳहैव श्रिया यशसा तपति, योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

* भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, † ये आठ अक्षर हैं। गायत्री

---

* उक्थ यजु साम की प्राणोपासना के अनन्तर गायत्री छन्द के विषय में उपासना बतलाते हैं, गायत्री छन्दों में मुख्य है, द्विजत्व का कारण है और प्राणत्राण का सामर्थ्य रखता है ॥

† द्यौ को दियौ उच्चारण करते है; इसी प्रकार व्यान को वियान और वरेण्यं को वरेणियं उच्चारण करते हैं ॥

का एक पाद् आठ अक्षर का होता है। यही (त्रिलोकी) इस का यह (एक पाद) है। जो इस के इस (पाद) को इस प्रकार जानता है, वह उतना जीतता है (वश करता है) जितना इन तीनों लोकों में है॥ १॥ ऋचः, यजूंषी, सामानि, ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर का गायत्री का एक पाद (दूसरा पाद) है, यही (त्रयी विद्या, ऋचा, यजु, और साम का विषय) इस का यह (दूसरा पाद) है। जो इस के इस (पाद) को इस प्रकार जानता है, वह उतना जीतता है, जितनी यह त्रयी विद्या है (त्रयी विद्या से जो फल मिलता है वह फल पाता है)॥ २॥ प्राण अपान व्यान,=(वियान) ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर का गायत्री का एक पाद है (तीसरा पाद) है। यही (प्राण, अपान, व्यान) इस का यह (तीसरा पाद) है। जो इस के इस (तीसरे) पाद को इस प्रकार जानता है, वह उतना जीतता है, जहां तक कोई सांस लेने वाला है। और इस (गायत्री) का यही 'तुरीयं दर्शतं पदं परोरजाः' (चौथा दर्शनीय पाद है जो यह लोकों से ऊपर चमकता है), जो कि यह तप रहा है (सूर्य का अन्तर्यामी) यह 'दर्शतं पदं' इस लिए है क्योंकि यह दीखता सा है जो सूर्य में पुरुष है; और 'परोरजाः' इस लिए है, क्योंकि यह हर एक लोक के ऊपर २ चमकता है और वह जो इस (गायत्री) के इस पाद को जानता है, वह इसी प्रकार शोभा से और यश से चमकता है॥३॥

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता। तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं। चक्षुर्वै सत्यं, चक्षुर्हि वै सत्यं, तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातम् 'अहमदर्शमहम-

श्रौषमिति' । य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं, प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं। तस्मादाहुः । 'बलꣳसत्यादोगीय ' इति । एवंन्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता । सा हैषा गयाꣳस्तत्रे । प्राणा वै गया स्तत्प्राणाꣳस्तत्रे, तद्यद्गयाꣳस्तत्रे, तस्माद् गायत्री । सा यामेवामूꣳ सावित्री मन्वाह, एषैव सा। स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते ॥ ४ ॥ ताꣳहैता मेके सावित्री मनुष्टुभमन्वाहुः । 'वागनुष्टु बे तद्वाचमनुब्रूम ' इति । न तथा कुर्याद्, गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद् ' । यदि हवा अप्येवंविद् बह्विव प्रतिगृह्णाति न हवै तद् गायत्र्या एकं चन पदं प्रति ॥ ५ ॥ स य इमाꣳस्त्रीꣳल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात्, सोऽस्या एतत् प्रथमं पद माप्नुयाद् । अथ यावतीयं त्रयी विद्या, यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्, सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयाद् । अथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात्, सोऽस्या एतत् तृतीयं पदमाप्नुयाद् । अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति, नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६ ॥

वह गायत्री (त्रिलोकी, त्रयी विद्या और प्राण जिस के तीन पाद हैं) इस चौथे पाद पर ठहरी हुई है, जो यह दर्शनीय सब लोकों से ऊपर है। और वह फिर (चौथा पाद) सत्य पर ठहरा हुआ है, और सत्य आंख है, क्योंकि आंख सत्य

है यह प्रसिद्ध है। इसलिए अब भी यदि दो पुरुष झगड़ते हुए आएं, (एक यह कहता हुआ) मैंने देखा है, और दूसरा-मैंने सुना है, तो हम उसी के लिये श्रद्धा करेंगे, जो यह कहता है, कि मैंने देखा है। और वह सत्य फिर बल (शक्ति) पर ठहरा हुआ है। और बल प्राण (जीवन) है, वह (बल) प्राण पर ठहरा हुआ है। इसलिए कहते हैं कि बल सत्य से भारी शक्ति है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म सम्बन्ध में ठहरी हुई है। यह गायत्री प्राणों (इन्द्रियों) की रक्षा करती है, सो जिस लिए यह प्राणों की रक्षा करती है, इसलिए गायत्री नाम है (गयांस्त्रायते=गायत्री)। वह (आचार्य्य शिष्य को) जिस सावित्री (सवितृ देवता वाली) ऋचा का उपदेश करता है, यही वह (गायत्री) है। वह (आचार्य्य) जिस के लिये उपदेश करता है, उसके प्राणों की रक्षा करती है* ॥४॥ कई (आचार्य शिष्य के प्रति) इस सावित्री को अनुष्टुभ्छन्द में उपदेश करते हैं, इस बुद्धि से कि अनुष्टुभ् वाणी है, सो इस तरह पर हम (शिष्य को) बाणी (सरस्वती) का उपदेश करते हैं। पर ऐसा नहीं करना चाहिये, गायत्री छन्द में ही सावित्री का उपदेश करना चाहिये †। और यदि इस (रहस्य)

* आठ वर्ष की आयु में शिष्य को आचार्य्य सावित्री (गायत्री) का उपदेश करता है। और वह इस सावित्री के उपदेश से जानता है, कि इस को प्राण का=नए जीवन, का उपदेश दिया गया है।

† यह ऋचा ऋग्वेद ५। ८२। की है-तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥

‡ क्योंकि गायत्री जीवन (प्राण) की जगह है, और शिष्य नए जीवन को लाभ करता है, जब वह गायत्री सीखता है ॥

को समझने वाला (आचार्य गायत्री के उपदेश के बदले में) बहुत सा भी लेता है, तो वह गायत्री के एक पाद के बराबर भी नहीं है ॥ ५ ॥ यदि कोई (आचार्य) सब वस्तुओं से पूर्ण हुए इन तीनों लोकों को (गायत्री के उपदेश की) दक्षिणा लेवे, तो वह इसके पहले पाद को प्राप्त हो सके * । और यदि कोई पुरुष उतना लेवे, जितनी कि यह त्रयी विद्या है (त्रयी विद्या का फल है) तो वह इसके दूसरे पाद को प्राप्त हो सके। और यदि कोई पुरुष उतना लेवे, जितना कि यह प्राणधारी जगत् है, तो वह इस के तीसरे पाद को प्राप्त हो सके, और इस का यही चौथा दर्शनीयपाद लोकों से ऊपर है, जो यह तपता है । यह किसी (प्रतिग्रह) से नहीं पाया जा सकता, कहां से इतना लेवे † ॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानम्-' गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी

---

* इतनी दक्षिणा से वह आचार्य्य गायत्री के प्रथमपाद के ज्ञान का ही फल भोगेगा, यह दान उसे अधिक दोषी नहीं बनाएगा ॥

† पहले तीन पादों के ज्ञान का फल जो बतलाया है, उस का भी दाता ' प्रतिग्रहीता ' कोई नहीं हो सकता, तथापि कल्पना करके यह फल कहा है । अब त्रिलोकी, त्रयी विद्या और प्राणि जगत् में सब कुछ आ गया, इस लिए चौथे पाद का बदला कोई शेष नहीं रहता। अर्थात् गायत्री के इस रहस्य को जानने वाला जो नाम सद्वस्तु है, उस सब का प्रतिग्रह ले लेवे, तौ भी गायत्री के ज्ञान का फल उस से बढ़कर है ॥

चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे'। 'असावदो मा प्रापदिति' यं द्विष्याद्, 'असावस्मै कामा मा समृद्धीति' वा, न हैवास्मै स कामः समृध्यते, यस्मा एव मुपतिष्ठते। 'अहमदः प्रापमिति वा'॥७॥ एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिल माश्वतराश्वि मुवाच। यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा, अथ कथꣳहस्तीभूतो वहसीति'। 'मुखꣳह्यस्याः सम्राण्न विदाञ्चकार' इति होवाच। तस्या अग्निरेव मुखं; यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति, सर्वमेव तत्संदहति, एवꣳह वैवंविद् यद्यपि बह्विव पापं कुरुते, सर्वमेव तत् संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः सम्भवति॥ ८॥

संगति—यह उस (गायत्री) का उपस्थान * हैः—

'हे गायत्रि! तू एक पादवाली है, दो पादवाली है, तीन पाद वाली है, चार पादवाली है †। तू बिना पाद के है,

---

* उपस्थान में देवता की स्तुति और नमस्कार की जाती है और उस के पीछे प्रार्थना की जाती है। वह प्रार्थना दो प्रकार की होती है। आभिचारिक=दूसरे के विरुद्ध। और आभ्युदयिक=अपने लिये वर मांगना। आभिचारिक के दो आकार हैं, 'असावोदामाप्रापत्' 'असावस्मै कामो मा समृद्धि'। और आभ्युदयिक का एक आकार है 'अहमदः प्रापम्'। उपस्थान उस फल की प्राप्ति कराता है, जब वह गायत्री के साथ लगाया जाता है॥

† पहला पाद त्रिलोकी, दूसरा त्रयी विद्या, तीसरा प्राण अपान व्यान चौथा परोरजाः है।

क्योंकि तू जानी नहीं जाती है *। तेरे चौथे दर्शनीय पाद के लिये नमस्कार है, जो 'सब लोकों से ऊपर है'। (इस उपस्थान के अन्त में) जिस के साथ द्वेष हो, उस के लिये यह वचन कहे कि 'वह † (शत्रु) उस (फल) को मत प्राप्त हो' या यह कहे कि 'उस की वह कामना पूरी न हो'। निःसंदेह उस की वह कामना पूरी नहीं होती, जिस के लिये इस प्रकार उपस्थान किया गया है। या यह कहे कि मैं उस (अमुक) फल को प्राप्त होउं ॥७॥ यह बात जनक वैदेह ने बुडिल आश्वतराश्वि (अश्वतराश्व के पुत्र) को कही 'यह क्या? तू तो अपने आप को गायत्री का जानने वाला बतलाता था, तो अब कैसे हाथी बन कर मुझे उठाए ले जा रहा है'? उस ने कहा-'हे सम्राट्! मैंने इस के मुख को नहीं जाना था'। अग्नि ही उस का मुख है; और यदि बहुत कुछ भी अग्नि में डाल देते हैं, तो वह उस सब को भस्म कर देता है, इसी प्रकार इस (रहस्य) को जानने वाला यदि बहुत सा पाप भी ‡ करता है, तो वह उस सब को खाकर शुद्ध पवित्र अजर अमर होता है ॥८॥

---

* शुद्ध स्वरूप बिना पद के नेति नेति से ही वर्णन होता है॥

† वह शत्रु रूपी कार्य जो तेरी प्राप्ति में विघ्नकारी है (शंकराचार्य्य) असौ की जगह शत्रु का नाम उच्चारण करे (शंकराचार्य)॥

‡ यहां पाप से अभिप्राय प्रतिग्रह से है, जिस का पूर्व प्रसङ्ग आरहा है। अर्थात् जो गायत्री के रहस्य को बिन जाने अधिक प्रतिग्रह लेता है, तो पापी बनता है, जैसा कि बुडिल निरा मुख के न जानने से हस्ती बना। और जो हरएक रहस्य

पन्द्रहवां ब्राह्मण ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूष-न्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ वायुरनिलममृत मथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् । ओं क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१॥

* सुनहरी पात्र=(सूर्य मण्डल) से सत्य (सूर्य के अधिष्ठाता हरिण्यगर्भ) का मुख † ढपा हुआ है । हे पूषन् ! तू उसे खोलदे, जिस से मैं सत्य के स्वरूप का दर्शन करूं ‡ ॥

को जानता है, वह इस के प्रभाव से, प्रतिग्रह से पापी नहीं बनता, किन्तु उस सब को खाकर भी शुद्ध पवित्र अजर अमर होता है ॥

* ये ऋचाएं माध्यन्दिन शाखा मे छोड़ी हुई हैं । ईश उपनिषद् में १५-१८ ये मन्त्र हैं । यह बतलाया गया है कि जब उपासक मरने के निकट हो तो वह इन मन्त्रों से सत्य ब्रह्म को (सूर्य के अन्तर्यामी) सम्बोधन करे ॥

† मुख=मुख्य स्वरूप (शंकराचार्य्य) ॥

‡ मिलाओ=मैत्री० उप० ६ । ३ ॥

हे पूषन् ! एक देखने वाले, यम, (न्यायकारी) सूर्य, प्राजापत्य *, रश्मियों को फैला, और इकट्ठा कर। यह तेज जो तेरा कल्याण तम रूप है, मैं तेरे उस (रूप) को देखता हूं. जो वह वह पुरुष (सत्य ब्रह्म) है, वह मैं हूं ॥ प्राण अमर वायु को (समष्टि को जा मिले) और यह शरीर भस्म में समाप्त हो हे संकल्पमय ! (मन) तू † ओम् का स्मरण कर, अपनी कमाई का स्मरण कर, हे संकल्पमय ! स्मरण कर, अपनी कमाई का स्मरण कर ॥ हे अग्ने, हे देव ! तू हमारे सारे कर्मों को जानता

---

* प्राजापत्य = प्रजापति के सन्तान, प्रजापति = ईश्वर वा हिरण्यगर्भ (शंकराचार्य) ॥

† 'ओं क्रतो स्मर' इत्यादि से, अपना संकल्प रूप हो कर मन में स्थित जो अग्नि देवता है, उससे प्रार्थना करता है। अग्नि ईश्वर का प्रकाशक है इस लिए ओम् शब्द से, और मनोमय है इस लिए क्रतु शब्द से सम्बोधन किया है। हे ओम्, हे क्रतो ! स्मरण कर, मेरे किये हुए को स्मरण कर, क्योंकि तेरे स्मरण के अधीन इष्टगति है (शंकराचार्य) ॥

वाजसनेयी संहिता का पाठ–' ओम् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्लिबे स्मर' उव्वट यहां अग्नि से अभिप्राय लेता है, जिस में आयु भर होम किया है, और अब जो मन के रूप में प्रकट है, वा क्रतु से अभिप्राय यज्ञ लेता है। हे अग्ने ! मुझे स्मरण कर, लोक के लिये स्मरण कर, (अर्थात् मैंने इसे यह लोक देना है) मेरे किये हुए को स्मरण कर'। और क्लिबे पर महीधर ने लिखा है, यह क्लिप् का चतुर्थ्यन्त रूप है। क्लिप् अर्थात् लोक, जो कुछ भोगा जाता है (कल्प्यते भोगाय) ॥

है। हमें ऐश्वर्य के लिये शुभ मार्ग (उत्तर मार्ग) से ले चल, कुटिल पाप को हम से दूर कर, हम बारम्बार तुझे नमो वचन देंगे (ऋ० १ । १८६ । १) ॥

छटा अध्याय—पहला ब्राह्मण *

ओम् । यो ह वै ज्येष्ठं श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति । प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति, अपिच, येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद, वसिष्ठः स्वानां भवति । वाग्वै वसिष्ठा । वसिष्ठः स्वानां भवति, अपि च येषां बुभूषति, य एवं वेद ॥ २ ॥ यो हवै प्रतिष्ठां वेद, प्रतितिष्ठति समे, प्रतितिष्ठति दुर्गे । चक्षुर्वै प्रतिष्ठा, चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे, य एवं वेद ॥ ३ ॥ यो ह वै संपदं वेद, सꣳहास्मै पद्यते, यं कामं कामयते । श्रोत्रं वै सम्पत्, श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सꣳहास्मै पद्यते यं कामं कामयते, य एवं वेद ॥४॥

जो ज्येष्ठ (सब से बड़े) और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । प्राण निःस-

---

* माध्यन्दिनी शाखा में यह १४ । ६ । २ पर है । यह विषय छान्दो० उप० ५।१; ऐत० आ० २।४; कौषी० उप० ३।३; प्रश्न० उप० २ । ३ में भी है ॥

न्देह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है* । जो यह जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है, और उन के भी, जिन के मध्य में होना चाहता है ॥१॥ जो सब से बड़ी धनवाली† को जानता है, वह अपने लोगों के मध्य में बड़ा धनी होता है । वाणी निःसंदेह बड़ी धनवाली है। जो यह जानता है, वह अपने लोगों के मध्यमें बड़ा धनी होता है, और उनके मध्य में भी, जिन के मध्य में होना चाहता है ॥ २ ॥ जो दृढ़ स्थिति को जानता है, वह दृढ़ स्थित होता है सम (स्थान) में और दृढ़ स्थित होता है विषम में । आंख निःसन्देह दृढ़ स्थिति है, क्योंकि आंख के द्वारा मनुष्य सम और विषम में दृढ़ स्थित होता है ॥ ३ ॥ जो सम्पदा को जानता है, वह जो कामना चाहता है, उस के लिये सिद्ध होती है । श्रोत्र सम्पदा है, क्योंकि श्रोत्र में सारे वेद सफल होते हैं । जो यह जानता है, वह जो कामना चाहता है, उस के लिये सिद्ध होती है ॥४॥

यो हवा आयतनं वेद, आयतनꣳस्वानां भवत्यायतनं जनानां । मनो वा आयतनम् । आयतनं स्वानां भवत्याय-तनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

---

* प्राण के अधीन सब इन्द्रियों की स्थिति है, इसलिए प्राण श्रेष्ठ है । और प्राण वीर्य के साथ आता है, शेष इन्द्रिय पीछे उत्पन्न होते हैं, इस लिए प्राण ज्येष्ठ भी है ॥

† यहां यह स्त्री लिङ्ग में आया है, छान्दो० उप० ५ । १ में वसिष्ठः इस प्रकार पुंल्लिङ्ग है ।

जो घर (इन्द्रियों और विषयों के आश्रय दाता) को जानता है, वह अपने लोगों का घर होता है, सब लोगों का घर होता है। मन निःसन्देह घर है। जो यह जानता है, वह अपने लोगों का और सब लोगों का घर (आश्रय दाता) बन जाता है ॥५॥

यो ह वै प्रजातिं वेद, प्रजायते ह प्रजया पशुभिः। रेतो वै प्रजातिः। प्रजायते ह प्रजया पशुभिः, य एवं वेद ॥७॥ ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः। तद्धोचुः। 'को नो वसिष्ठ' इति। तद्धोवाच 'यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ' इति ॥ ७ ॥ वाग्घोच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितुमिति'। ते होचुः—'यथा कला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा शृन्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

* जो अगली उत्पत्ति को जानता है, वह सन्तान और पशुओं से सम्पन्न होता है। बीज अगली उत्पत्ति है। जो यह जानता है, वह प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है ॥ ६ ॥ ये प्राण (इन्द्रिय) 'मैं श्रेष्ठ हूं' के लिये झगड़ते हुए ब्रह्म † के पास गए। और कहा 'कौन हम में से श्रेष्ठ है' उसने कहा— 'तुम में से जिस के निकल जाने पर यह शरीर अधिक दूषित

---

* यह छान्दोग्य उप० में नहीं है ॥

† छान्दोग्य में ब्रह्म की जगह यहां प्रजापति और वसिष्ठः की जगह श्रेष्ठः है ॥

समझा जाए, वह तुम में से श्रेष्ठ है ॥७॥ बाणी बाहर गई । और बरस भर बाहर रह कर वापिस आई और कहा 'तुम मेरे बिना कैसे जी सके'? उन्होंने कहा 'जैसे गूंगे बाणी से न बोलते हुए भी प्राण से सांस लेते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए, बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं, इस प्रकार हम जिये'। तब बाणी प्रविष्ट हुई ॥८॥

चक्षुर्होच्चक्राम—तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितु मिति'। ते होचुः—'यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्मेति'। प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

अब आंख बाहर गई, और बरस भर बाहर रहकर आई और कहा 'मेरे बिना तुम कैसे जी सके' उन्हों ने कहा जैसे अन्धे आंख से न देखते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, बाणी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए और बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं वैसे हम जिये। आंख प्रविष्ट हुई ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितुमिति'। ते होचुः—यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

कान बाहर गया, वह बरस भर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'मेरे बिना तुम कैसे जी सके' उन्हों ने कहा 'जैसे बहरे जन कान से न सुनते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, बाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, मन से जानते हुए और बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं, वैसे हम जिये। कान प्रविष्ट हुआ ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितुमिति'। ते होचुः-यथा मुग्धा अविद्वा-ꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

मन बाहर गया और बरस भर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'मेरे विना तुम कैसे जिये' उन्होंने कहा 'जैसे मूर्ख-जन मन से न जानते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, बाणी से बोलते हुए, आंख से देखते हुए, कान से सुनते हुए और बीज से आगे उत्पत्ति करते हुए जीते हैं, वैसे हम जिये। मन भी प्रविष्ट हुआ ॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच 'कथमशकत मदृते जीवितुमिति'। ते होचुः-'यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेन विद्वाꣳसो मनसा एवमजीविष्मेति'। प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

बीज बाहर गया, वह बरस भर बाहर रह कर वापिस आया और कहा 'मेरे बिना तुम कैसे जिये'। उन्होंने कहा 'जैसे नपुंसक बीज से आगे उत्पत्ति न करते हुए भी प्राण से सांस लेते हुए वाणी से बोलते हुए आंख से देखते हुए कान से सुनते हुए और मन से जानते हुए जीते हैं, वैसे हम जिये। बीज भी प्रविष्ट हुआ ॥ १२ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीश शंकून्संवृहेदेवꣳहैवेमान् प्राणान् संववर्ह। ते होचुः 'मा भगव उत्क्रमीः। नैव शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति'। 'तस्यो मे बलिं कुरुतेति' 'तथेति' ॥ १३ ॥

अब (मुख्य) प्राण जब बाहर जाने लगा, तो उस ने उन (सब) को उखाड़ दिया, जैसे एक बड़ा और उत्तम सिन्धु देश का घोड़ा उन कीलों को उखाड़ देता है जिन से उसके पाओं बन्धे हुए होते हैं। तब उन्हों (इन्द्रियों) ने कहा 'भगवन्! बाहर मत जाओ, तेरे बिना हम जी नहीं सकते' (उसने कहा) 'तब मुझे भेंट दो' उन्होंने कहा 'बहुत अच्छा' ॥ १३ ॥

सा ह वागुवाच 'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि, त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति'। यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति' चक्षुः। 'यद्वा अहꣳसम्पदस्मि त्वं तत्संपदसीति' श्रोत्रम्। 'यद्वा अहमायतनमस्मि, त्वं तदायतनमसीति' मनः। 'यद्वा अहं प्रजातिरस्मि, त्वं तत्प्रजातिरसीति' रेतः। 'तस्यो मे किमन्नं किं वास इति'। 'यदिदं किञ्चाऽऽश्वभ्य आक्रमिभ्य

आकीटपतङ्गेभ्यः, तत्ते ऽन्नमापोवास इति' । न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति, नानन्नं प्रतिगृहीतं, य एवमेतदनस्यान्नं वेद । तद्विद्वा ꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

बाणी ने (भेंट देते हुए) कहा 'मैं जो धनवाली हूं, वह धनवान् तू है' (मेरी वसिष्ठता तेरी ही वसिष्ठता है) । आंख ने कहा 'मैं जो दृढ़ स्थिति हूं, वह दृढ़ स्थिति तू है' कान ने कहा 'मैं जो सम्पदा हूं, वह सम्पदा तू है' । मन ने कहा 'मैं जो घर हूं, वह घर तू है' बीज ने कहा 'मैं जो आगे उत्पत्ति हूं, वह आगे उत्पत्ति तू है' तब उस ने कहा 'मेरे लिये अन्न क्या होगा और वस्त्र क्या' ? (उन्होंने कहा) जो कुछ यह है, कुत्तों तक, छोटे कृमियों तक और कीड़े पतंगों तक वह तेरा अन्न है * और जल तेरा वस्त्र । जो इस प्रकार अन (प्राण) के अन्न को जानता है, उसकी खाई हुई कोई वस्तु ऐसी नहीं हो सकती, जो (उचित) अन्न न हो, † उस की

---

* अभिप्राय यह है, कि हर एक प्रकार का अन्न चाहे वह कुत्तों से खाया जाता है, वा कृमियों से अथवा कीट पतंगों से, वह प्राण का आहार है ॥

† यह अभिप्राय नहीं, कि ऐसा जानने वाले के लिये भक्ष्याभक्ष्य का भेद नहीं रहता । किन्तु ऐसा जानने वाले ने प्राणों की रक्षा के उद्देश्य से जो कुछ भी खाया है, वह उस को पापी नहीं ठहराता (देखो छान्दो० उप० १ । ६ में उषस्ति चाक्रायण का इतिहास) ।

दान ली हुई कोई वस्तु नहीं जो (उचित) अन्न न हो । वेद के जानने वाले यह (जल प्राण का वस्त्र है) जानते हुए जब खाने लगते हैं, तो आचमन करते हैं, और खाने के पीछे भी फिर आचमन करते हैं, इस से वे समझते हैं कि हम प्राण को नंगा नहीं करते हैं (जल का वस्त्र पहनाते हैं) ॥ १४ ॥

दूसरा ब्राह्मण *

श्वेतकेतुर्हवा आरुणेयः पञ्चालानां परिषद माजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणम् । तमुदीक्ष्याभ्युवाद । 'कुमारा३इति, स 'भो३३ति' प्रतिशुश्राव । 'अनुशिष्टोन्वसि पित्रेति' । 'ओ मिति' होवाच ॥ १ ॥

श्वेतकेतु आरुणेय (अरुण का पोता) पञ्चालों की सभा में आया । वह जैवलि (जेवल के पुत्र) प्रवाहण † (राजा) के पास पहुंचा, जब कि वह (अपने लोगों समेत) दौरा (या सैर) कर रहा था । जूंही कि (राजा ने) उसे देखा, उस ने कहा 'कुमार' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया 'भगवन्' (राजा ने उसे पूछा) क्या तुम पिता से शिक्षा दिये गए हो । उस ने कहा 'हां' ॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति । नेति होवाच । वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति । नेति

* मिलाओ छान्दो० उप० ५ । ३ ॥

† यह क्षत्रिय ब्रह्मविद्या में पूर्ण विद्वान् था छांदो० उप० १।८।१ में उद्गीथ विद्या में इसने दो ब्राह्मणों को चुप कराया था

होवाच । वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रय- द्भिर्न सम्पूर्यता ३ इति । नेति हैवोवाच । वेत्थो यतिथ्या- माहुत्याꣳहुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ति ३ इति । नेति होवाच । वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं, पितृयाणस्य वा, यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा । अपिहि न ऋषेर्वचः श्रुतं–'द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति'। 'नाह मत एकंचन वेदेति' होवाच ॥ २ ॥

(राजा ने कहा) क्या तुम जानते हो कि यह मनुष्य मर कर जैसे अलग २ मार्ग लेते हैं । उस ने कहा 'नहीं'। क्या तुम जानते हो कि किस तरह वे इस लोक को वापिस आते हैं' उस ने कहा 'नहीं' 'क्या तुम जानते हो, कि वह लोक क्यों भर नहीं जाता, जब कि यहां से बहुत से लोग इस तरह फिर फिर २ उसमें जारहे हैं, उसने कहा 'नहीं'। क्या तुम जानते हो, कि कितवीं आहुति के होम किये जाने पर जल (होम किये हुए दुग्ध आदि) मानुषी वाणी वाले बन कर उठते हैं और बोलते हैं? उसने कहा 'नहीं'। क्या तुम जानते हो, देवयान् के मार्ग की प्राप्ति को और पितृयाण मार्ग की प्राप्ति को, अर्थात् जो कर्म करके देवयान मार्ग को प्राप्त होते हैं वा पितृयाण मार्ग को प्राप्त होते हैं ? और क्या तुम ने (इस विषय में) ऋषि का वचन (मन्त्र) नहीं सुना है–'मैंने मनुष्यों के

लिए दो रस्ते सुने हैं, एक पितरों का दूसरा देवताओं का। इन्हीं दोनों (मार्गों) से यह सारा विश्व चलता हुआ जाता है जो पिता (द्यौ) और माता (पृथिवी) के मध्य में है'। उसने कहा 'मैं इन प्रश्नों में से एक भी नहीं जानता हूं' ॥२॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रे। अनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरं, तं होवाच। 'इति वाव किल नो भवान् पुराऽनुशिष्टानवोचः' इति। 'कथꣳसुमेध' इति। 'पञ्च मा प्रश्नान् राजान्यबन्धुरप्राक्षीत्, ततो नैकंचन वेदेति' 'कतमे त' इति। 'इम' इति प्रतीकान्युदाजहार ॥ ३ ॥

तब राजा ने इसे ठरहने के लिये (आतिथ्य सत्कार के लिये) कहा। पर कुमार ठहरना स्वीकार न कर वेग से लौट आया। वह पिता के पास आया और उसे कहा—'यह आपने हमें पहले कहा था, कि तुम शिक्षा दिये जा चुके हो'। (पिता ने कहा) 'तब हे पवित्र समझ वाले! क्या बात है' (पुत्र ने कहा) 'उस क्षत्रिय बन्धु * ने मुझे पांच प्रश्न पूछे हैं, उन में से मैं एक भी नहीं जानता हूं'। (पिता ने कहा) 'वे कौन से हैं'। (उस ने) 'ये हैं' यह कह कर प्रतीकें बोल दीं ॥३॥

स होवाच—'तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं, प्रेहि, तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं

---

* क्षत्रिय न कह कर, क्षत्रिय बन्धु कहने में कुछ घृणा प्रकट की है। अर्थात् वह, जिस के बन्धु क्षत्रिय हैं, न कि ब्राह्मण, मैं उस के प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सका ॥

वत्स्याव' इति। भवानेव गच्छत्विति। स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास। तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकार। अथ हास्मा अर्घ्यं चकार। तं होवाच-'वरं भगवते गौतमाय दद्म इति' ॥ ४ ॥

उसने कहा-'हे बेटा! तुम हमें ऐसा जानो, कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझे बतला दिया है। सो आओ चलो वहां वापिस जा कर हम दोनों ब्रह्मचर्य वास करें'। (पुत्र ने कहा 'आप ही जाएं' तब वह गौतम वहां आया, जहां प्रवाहण जैवलि (का स्थान) था। (राजा ने) उस के लिये आसन देकर जल मंगवाया और अर्घ्य (आतिथ्य पूजन) किया। और उसे कहा 'हे भगवन् गौतम हम आप को वर देते हैं' ॥४॥

स होवाच-'प्रतिज्ञातो म एष वरः, यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥'५॥ स होवाच-'दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति' ॥ ६ ॥

गौतम ने कहा-'यह वर तुम ने मेरे लिये मान लिया है। अब वही बात मुझे बताओ, जो तुमने मेरे पुत्र के पास कही है ॥ ५ ॥ उस ने कहा 'हे गौतम वह दैव वरों में से है, मानुष वरों (धन, पशु आदि) में से कोई कहो' ॥ ६ ॥

स होवाच-'विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो अश्वानां दासीनां प्रावाराणां परिधानस्य, मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति'। 'स वै गौतम तीर्थेने-

च्छासा इति'। 'उपैम्यहं भवन्तमिति'। वाचा हस्मैव पूर्व उपयन्ति। सहोपायनकीर्त्योवास ॥ ७ ॥

उसने कहा–'तुम अच्छी तरह जानते हो, कि मेरे पास सोने की, गौओं और घोड़ों की, दासियों की, परिवारों की और कपड़े की बहुतायत है, मत आप हमारे लिये बड़े, अनन्त; और अनखुट्ट (धन) के अधिक ढेर लगाने वाले बनें *, (राजा

* अर्थात् जो धन मेरे पास अनखुट्ट पड़ा है. यदि उसी धन के और ढेर आप मेरे घर लगा देंगे, तो मेरा उस से क्या सिद्ध होगा, मैं इस धन के लिये नहीं आया, न लेना चाहता हूं, मुझे वह धन दो जिस का मैं अर्थी हूं ॥

स्वामी शंकराचार्य्य यहां अभि + अवदान्यः छेद करके अवदान्यः का अर्थ कदर्य=कंजूस लेकर यह अभिप्राय लिखते हैं। कि तुम और सब जगह उदार रह कर अब 'नः अभि' हमारे लिये ही कंजूस मत बनो। वदान्यः=उदार और अवदान्यः=कंजूस। यह अवदान्य शब्द यद्यपि व्याकरण की रीति से वदान्य का प्रतियोगी बन सकता है, तथापि इस अर्थ में इस का प्रयोग नहीं पाया जाता, और दूसरा–अभिशब्द को अपनी जगह से फैंकना पड़ता है। इस लिए यह अवदान्य अवदान से निकला हुआ प्रतीत होता है जिस का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा पाया जाता है। अवदान=कटा हुआ टुकड़ा. काट कर अलग की हुई हवि। (देखो मैत्री० उप० ६। ३२)। और अभ्यवदा अधिक काटने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (देखो शतपथ ब्रा० २। ५। २। ४०) अभ्यवदान्य इस का अर्थ उस से अधिक देने वाला, जितना कि अभिप्रेत है ॥

ने कहा) गौतम ? क्या तुम न्यायमार्ग (ठीक रस्ते) से (शिक्षा पाना) चाहते हो ' (गौतम ने कहा) ' मैं (शिष्य के तौर पर) आप के पास आता हूं। वाणी से ही बड़े (ब्राह्मण) (शिष्य के तौर पर छोटी जातियों के) पास आते थे * । बस उसने पास आने के कहने से वास किया ॥७॥

स होवाच—'तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहाः, यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास। तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्त मर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥ असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम, तस्यादित्य एव समिद् , रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तर दिशो विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥ ९ ॥

राजा ने कहा-' हे गौतम (इस में) तुम दोषी हमें न ठहराओ और न तुम्हारे पुरखा † (हमें दोषी ठहराएं), क्योंकि यह विद्या इस से पहले किसी ब्राह्मण के पास नहीं रही है । पर मैं तुझे वह (विद्या) बताऊंगा, क्योंकि कौन तुम से इन्कार

---

* अर्थात् शिष्य के लिये जो गुरु के चरणों पर हाथ रखना है, वह उच्च वर्ण के निचले वर्णों के साथ नहीं करते हैं, केवल ' उपैमि ' इतना कहना ही उन का शिष्य बनना है सो ऐसे ही गौतम भी बना ।

† जैसे तुम्हारे बड़ों ने हमारे बड़ों का अपराध नहीं जाना ऐसे तुम भी हमारा अपराध न जानो (शंकराचार्य) ॥

कर सकता है, जब तुम इस तरह कह रहे हो ॥ ८ ॥ * वह लोक (द्यौ) है गौतम अग्नि है; सूर्य उस की समिधा है, किरणें धूम है, दिन लाट है दिशाएं अंगारे हैं; मध्य की दिशाएं (कोणें) चिंगाड़ियां है। इस अग्नि में देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं। उस आहुति से राजा सोम (चन्द्र) उत्पन्न होता है† ॥ ९

---

* पांच प्रश्नों में से चौथे प्रश्न का निर्णय पहले करते हैं, क्योंकि शेष सारे प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के निर्णय के अधीन है ॥

† पूर्व कर्म्म काण्ड के प्रकरण में अग्निहोत्र के विषय में जनक ने याज्ञवल्क्य के प्रति छः प्रश्न किये हैं, कि तुम इन (सायं प्रातः की) दोनों आहुतियों का यहां से ऊपर उठना गमन करना, ठहरना, तृप्त करना, फिर लौटना और इस लोक में आकर फिर उठना, जानते हो। वहां इन प्रश्नों के उत्तर में आहुतियों का अन्तरिक्ष और द्यौ में जाना और वहां फल देना आदि लिखा है। कर्म का फल कर्ता के लिये होता है, इस लिए अभिप्राय यह है, कि सायं प्रातः के होम से अन्तःकरण में वह धर्म्म उत्पन्न होता है, जो मरने के पीछे साथ जाता है और फल देता है, इसी को अपूर्व और इसी को अदृष्ट कहते हैं। मानों ये दोनों आहुतियें सूक्ष्मरूप (धर्म रूप) में कर्ता के साथ हैं, यही बीज है उस वृक्ष का, जो कर्ता के लिये फल लाने वाला है। इन दोनों आहुतियों के ऊपर उठने, अन्तरिक्ष में जाने और फिर द्यौ लोक में जाने आदि का यह अभिप्राय है, कि वे इस सूक्ष्मरूप में सूक्ष्म शरीर के साथ अन्तरिक्ष में से होती हुई द्यौ लोक में जाती हैं। जिस लिये ये अग्निहोत्र की

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम; तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥ अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम; तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रि रर्चिश्चद्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति। तस्या आहुत्या अन्नꣳसं भवति ॥ ११ ॥

आहुतियें हैं, इस लिए इन का कार्य प्रकट करने के लिये भी सब जगह अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है। जैसे जब वे अन्तरिक्ष में जाती हैं, तो अन्तरिक्ष को आहवनीय अग्नि बना लेती हैं और वायु को समिधा इत्यादि। और फिर जब द्यौ में पहुंचती हैं, तो द्यौ को आहवनीय अग्नि और सूर्य्य को समिधा बनाती हैं इत्यादि रूप से वहां वर्णन है। अब यहां वह कर्ता द्यौ लोक से जिस प्रकार लौटता है और जो २ रूप बनता आता है, उसका वर्णन करते हुए भी अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है। जैसा कि यहां लिखा है, 'असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्' इत्यादि। इसी प्रकार १३ खण्ड तक अर्थात् इस लोक में जन्म लेने रूपी फल तक पांच कल्पनाएं की हैं। यही पञ्चाग्नि विद्या कहलाती है। यहां मनुष्य ने जो आहुतियें अग्नि में दी हैं, उन का सूक्ष्म रूप जो कर्ता के साथ द्यौ लोक में है, उसी को श्रद्धा कहा है। उस श्रद्धा का वहां फिर होम हो कर अब वह चन्द्रलोक में उतर कर नया रूप धारण करता है उसी का नाम सोम राजा है॥

मेघ हे गौतम ! अग्नि है, बरस ही उस की समिधा है, मेघ धूम हैं, बिजली लाट है, वज्र अङ्गारे हैं, (बिजली की) कड़कें चिंगाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता सोम राजा का होम करते हैं, उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है (अर्थात् वही सोमाहुति अब वृष्टिरूप में बदलती है) ॥ १० ॥ यह लोक * हे गौतम ! अग्नि है, पृथिवी ही उस की समिधा है, अग्नि धूम है, रात्रि लाट है, चन्द्रमा अङ्गारे हैं, नक्षत्र चिंगड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है (वृष्टि अन्न के रूप में बदलती है) ॥ ११ ॥

पुरुषो वा अग्निर्गौतम, तस्य व्यात्तमेव समित् प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥१२॥ योषा वा अग्निर्गौतम, तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति। स जीवति यावज्जीवति। अथ यदा म्रियते ॥१३॥

पुरुष हे गौतम ! अग्नि है, खुला हुआ मुंह ही उस की समिधा है, सांस धूम है, वाणी लाट है, आंख अङ्गारे हैं, कान

---

* यहां इस लोक और पृथिवी में भेद किया है। पृथिवी से केवल गोला अभिप्रेत है। और इस लोक से इस पर का सारा जीवन्त जगत्। छान्दो० उप० में यह भेद नहीं किया है, सो वहां इस लोक से पृथिवी अभिप्रेत है ॥

चिंगाड़ियां हैं। इस अग्नि में देवता * अन्न का होम करते हैं, उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥ स्त्री हे गौतम ! अग्नि है।......इस अग्नि में देवता वीर्य को होमते हैं, उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है †। वह जीता है, जब तक जीता है, फिर जब वह मर जाता है ॥ १३ ॥

अथैन मग्नये हरन्ति । तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद् धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरंगारा अंगारा विस्फुलिंगाः विस्फुलिंगाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति । तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

तब वे इस को (मृतक को) (चिता की) अग्नि के लिये ले जाते हैं, तब (वास्तव) अग्नि ही उस की अग्नि होती है, समिधा समिधा, धूम धूम, लाट लाट, अङ्गारे अङ्गारे, चिंगाड़ियां चिंगाड़ियां, होती हैं। इस (चिता की) अग्नि में देवता पुरुष को होमते हैं, उस आहुति से पुरुष चमकते हुए रंग वाला बनता है ॥ १४ ॥

---

* यहां देवता प्राण हैं, अधिदैवत में जो इन्द्रादि देवता हैं, वही अध्यात्म में प्राण आदि हैं।

† चौथा प्रश्न था कि कितवीं आहुति में जल पुरुष की वाणी वाले होते हैं, उस का यह निर्णय हुआ, कि पांचवीं आहुति में वे पुरुष का शरीर आरम्भ करते हैं । वे ही जल श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और बीजरूप से द्यौ, पर्जन्य, यह लोक, पुरुष और स्त्रीरूपी अग्नि में होम किये हुए पुरुष का शरीर आरम्भ करते हैं ॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳसत्यमुपासते, तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोका दादित्यमादित्याद्वैद्युतम्। तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

जो इस (पञ्चाग्नि विद्या) को इस प्रकार जानते हैं वे (गृहस्थ भी), और वे जो जङ्गल में श्रद्धा के साथ सत्य (हिरण्यगर्भ) को उपासते हैं, वे, अर्चि (लाट) को प्राप्त होते हैं अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उन छः महीनों को, जिन में सूर्य उत्तर को जाता है (उत्तरायण), महीनों से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, सूर्य से विद्युत के स्थानों को, उन विद्युत्वासियों के पास अब एक मानस पुरुष * आता है वह उन को ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में तेजस्वी बन कर लम्बे बरसों के लिये बसते हैं, उनकी पुनरावृत्ति (वापिस लौटना) नहीं है † ॥ १५ ॥

---

* ब्रह्मलोक वासी पुरुष जो ब्रह्मा ने मन से रचा है (शंकराचार्य) ॥

† शाखान्तर में जो यहां 'इह' शब्द है, इस से यह अभिप्राय है कि इस कल्प में वापिस नहीं लौटते, कल्प बीतने के पीछे उन की आवृत्ति होती है (शंकराचार्य्य) ॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति, ते धूम-मभिसंभवन्ति, धूमाद्रात्रिꣳरात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं । ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳराजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वे * त्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति, तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते, आकाशाद्वायुं, वायोर्वृष्टिं, वृष्टेः पृथिवीं । ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, ते पुनः पुरुषाऽग्नौ हूयन्ते, ततो योषाऽग्नौ जायन्ते । लोकान् प्रत्युत्थायिनः, ते एवमेवानुपरिवर्तन्ते । अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतंगा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

अब जो लोग यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं (अपने भविष्यत् को सुधारते हैं) वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से उन छः महीनों को जिन में सूर्य दक्षिण को जाता है, महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्र को, चन्द्र में पहुंच कर अन्न बन जाते हैं, तब उन को वहां देवता खाते हैं, (उपभोग करते हैं), जैसे (सोमयज्ञ) में ऋत्विज् सोम राजा को बार २ पूर्ण करते हुए और घटाते हुए * (उपभोग करते हैं) । उन

---

* 'आप्यायस्वापक्षीयस्व' यह मन्त्र नहीं, किन्तु जायस्व म्रियस्व (छान्दो० उप० ५ । १० । ८) की नाईं है ॥

का जब वह (कर्म जो उन्होंने इस लोक में चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये किया है) क्षीण हो जाता है, तो वे फिर इसी आकाश की ओर वापिस होते हैं, आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी को। और जब वे पृथिवी पर पहुंचते हैं, तो अन्न बन जाते हैं, वे फिर पुरुष रूपी अग्नि में होम किये जाते हैं, उस से फिर वे स्त्री रूपी अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इस तरह लोकों की ओर उठते हैं। वे इसी प्रकार ही चक्र लगाते हैं॥ अब जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीड़े पतंगे और जो कुछ मक्खी मच्छर है (बनते हैं) * १६॥

---

* यहां यह निर्णय दिखलाया है, कि वानप्रस्थ और संन्यासी उत्तर मार्ग को प्राप्त होते हैं और वे गृहस्थ भी जो इस उपासना को जानते हैं। और जो गृहस्थ केवल कर्मी हैं, वे चाहे अग्निहोत्र वा दान वा तप इत्यादि किसी शुभ कर्म्म में रत हैं, वे दक्षिण मार्ग को जाते हैं और जो कर्म्म और उपासना दोनों से दूर रहे हैं, वे यहीं छोटे २ जीव जन्तुओं की योनि में पड़ते हैं। चौथे प्रश्न का उत्तर १३ खण्ड तक दिया है। पांचवें का उत्तर दक्षिण और उत्तर मार्ग की प्राप्ति के साधन बतलाने से दिया है। पहले का उत्तर यह दिया है कि अग्नि से आरम्भ करके कई तो अर्चि आदि का मार्ग लेते हैं और दूसरे धूम आदि का। दूसरे प्रश्न का उत्तर १६ खण्ड में आकाशादि क्रम से इस लोक को प्राप्त होते हैं इस से दिया है। तीसरे का उत्तर यह है कि कई तो कीट पतंग आदि को प्राप्त होते हैं और जो उस लोक में जाते हैं, वे भी फल भोग कर वापिस आते हैं, इस लिए वह लोक भर नहीं जाता है॥

* तीसरा ब्राह्मण *

स यः कामयते महत्प्राप्नुयामिति, उदगयन आपूर्यमानपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताऽऽज्यꣳसꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳसंनीय जुहोति । यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि, ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा । या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳस्वाहा ॥ १ ॥

* जो यह चाहता है कि मैं महत्व (बड़ाई) को प्राप्त होउं, वह उत्तरायण सूर्य में, शुक्लपक्ष के किसी पुण्यदिन में पहले बारह दिन उपसदों का व्रत धारण करके † गूलर (की

---

* ज्ञान और कर्म्म की गति पूर्व कही है। उनमें से ज्ञान स्वतन्त्र है, पर कर्म्म के लिये धन की अपेक्षा है, और वह अयोग्य उपाय से कमाया हुआ नहीं होना चाहिये, अतएव महत्व की प्राप्ति के लिये मन्थ कर्म बतलाते हैं, महत्व का लाभ हो जाने से धन का लाभ अर्थसिद्ध है । इस कर्म का अधिकारी वह है, जो पूर्वोक्त रीति से प्राण का उपासक है (शंकराचार्य) ॥ मन्थ कर्म छा० उप० ५।२ । ४-८ और कौषी० उप २ । ३ में भी है ॥

† जिस पुण्यदिन में कर्म्म करना हो, उस से पूर्व, किसी

लकड़ी) के कंसे (कटोरे) वा चमसे में सब प्रकार की ओष-धियें और फलों को इकट्ठा करे। (वेदि को) झाड़ कर और लीपकर अग्नि को प्रज्वलित करे (कुशा को वेदि के) चारों ओर विछाकर विधि से घी का संस्कार करके * पुरुष (पुल्लिङ्ग) नक्षत्र में मन्थ (सारी सामग्री, ओषधियें, फल, आज्य, मधु आदि) को इकट्ठा धर के होम करता है, † हे जातवेदः ! तुझ में जितने टेढ़े (हमारे प्रतिकूल) देवता मनुष्य की कामनाओं को हनन करते हैं, यह भाग मैं उन के लिये होमता हूं, वे तृप्त हो कर मुझे सारी कामनाओं से तृप्त करें '। स्वाहा ! जो टेढ़ी देवी यह जानती हुई पड़ी है ‡ कि मैं सब वस्तुओं को अलग २ रखने वाली हूं, हरएक कामना के सिद्ध करने वाली उस तुझ को मैं घी की धारा से पूजता हूं। स्वाहा ॥ १ ॥

पुण्य दिन से ही आरम्भ करके बारह दिन उपसदों का व्रत करे अर्थात् थोड़े से दूध पर निर्वाह करे ॥

* यह कर्म्म आवसथ्य अग्नि में किया जाता है, यहां सारा क्रम स्मार्त (स्थाली पाक विधि से) किया जाता है, न कि श्रौत। इसी लिये 'अग्नि मुपसमाधाय' यहां अग्नि एक वचन है, श्रौत अग्नियें तीन होती हैं। स्मार्त एक होती है ॥

† इन मन्त्रों की शंकराचार्य्य ने व्याख्या नहीं की और यह छा॰ उप॰ ५।२।६।४ में नहीं पाए जाते ॥

‡ माध्यन्दिन पाठ 'निपद्यसे' है । और यह उत्तरार्ध के अनुरूप ही है ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति।वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति । श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति । मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति। रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति ॥ २ ॥

स्वाहा, सब से बड़े के लिये, स्वाहा, सब से उत्तम के लिये, इस प्रकार अग्नि में आज्य का होम करके संस्रव (बचा हुआ घी जो चू रहा है) को मन्थ में डालता है । (फिर कहता है) स्वाहा. प्राण के लिये, स्वाहा, सब से बड़ी धनवाली के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है, (फिर) स्वाहा, वाणी के लिये, स्वाहा, दृढ़ स्थिति के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है । (फिर) स्वाहा, आंख के लिये, स्वाहा, सम्पदा के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है (फिर) स्वाहा, श्रोत्र के लिये, स्वाहा, घर के लिये इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है । (फिर) स्वाहा, मन के लिये, स्वाहा, आगे उत्पत्ति के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है । (फिर) स्वाहा बीज के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके

संस्रव को मन्थ में डालता है * ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति । सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रव मवनयति । क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ※ ॥ ३ ॥

---

* ये आहुतियें प्राण और इन्द्रियों के गुणों और नामों के साथ हैं। (देखो बृह० उप० ६ । १) ॥ इसी हेतु से प्राण का उपासक ही इस मन्थ कर्म का अधिकारी माना गया है ॥

※ अग्नि=अग्नि, सोम=चन्द्र, भूः=पृथिवी, भुवः=अन्तरिक्ष, स्वः=द्यौ, ब्रह्म=ब्रह्मतेज, क्षत्र=क्षात्रबल, भूत=हो चुका, भविष्यत्=होने वाला; विश्व=समष्टि जगत्, सर्व=हरएक वस्तु, प्रजापति=हिरण्यगर्भ । और सारा अर्थ मूल में ही स्पष्ट है । अर्थात्–स्वाहा अग्नि के लिये, इस प्रकार अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डालता है। ऐसे ही सारे वाक्यों का अर्थ है। स्वाहा का अर्थ है, यह होम शुभ हो ॥

अथैनमभिमृशति-भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमसि उद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥

तब वह इस को (मन्थ को जो प्राण के समर्पण किया गया है) स्पर्श करता है (इस मन्त्र से)-(वायु के समान) तू तेज़ है (अग्नि के समान) तू जल रहा है (ब्रह्म के समान) तू पूर्ण है (आकाश के समान) तू दृढ़ स्थित है (पृथिवी के समान सब का) तू एक स्थान है। (यज्ञ के आरम्भ में प्रस्तोता से) तू 'हिं' शब्द से नमस्कार किया गया है। (यज्ञ के मध्य में प्रस्तोता से) तू 'हिं' शब्द से नमस्कार किया गया है। (यज्ञ के आरम्भ में उद्गाता से) तू गाया गया है। (यज्ञ के मध्य में उद्गाता से) तू गाया गया है। (यज्ञ के आरम्भ में अध्वर्यु से तू सुनाया गया है (प्रशंसा किया गया है)। (यज्ञ के मध्य में आग्नीध्र से) तू फिर प्रशंसा किया गया है। तू गीले (मेघ) पर चमकने वाला है। तू बड़ा है। तू समर्थ है। (सोम की नाईं) तू अन्न है, तू अन्त है (मृत्यु) है। तू (सब वस्तुओं का) संवर्ग (अपने अन्दर संहार कर लेने वाला) है* ॥४॥

अथैनमुद्यच्छति-'आमꣳस्यामꣳहि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः, स माꣳराजेशानोऽधिपतिं करोतु' ॥५॥

---

* मन्थ की प्राणभाव से स्तुति की गई है। सब कुछ प्राण के अधीन है। इस लिए सर्वरूप से स्तुति की है॥

तब वह इस (मन्थ) को ऊपर उठाता है (यह कहते हुए) * तू सब कुछ जानता है, हम तेरी बड़ाई को जानते हैं। वह (मन्थ) निःसन्देह राजा है शासन करने वाला है स्वतन्त्र मालिक है। वह राजा शासन करने वाला मुझे स्वतन्त्र मालिक बनाए ॥ ५ ॥

अथैनमाचामति–तत्सवितुर्वरेण्यम् । मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि । मधुनक्त मुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पति र्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीः । अहमेवेदꣳसर्वं भूयासं । भूर्भुवः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति, प्रातरादित्यमुपतिष्ठते । ‘ दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति ’। यथैतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

तब इस को खाता है (यह कहते हुए) तत्सवितुर्वरेण्यम्–ऋत को प्यार करने वाले के लिये वायु मधु (शहद) झरता है, नदियें शहद झरती हैं, सब औषधियें हमारे लिये

---

* छा० उ० ५।२ । ६ । ६ ॥ आमं स्यामं हि ते महि=तू जानने वाला है, तेरा ज्ञान फैला हुआ है (द्विवेद गङ्ग) ॥

शहद (की नाईं मीठी) हों । भूः (पृथिवी) स्वाहा ॥ भर्गो दे-वस्य धीमहि—रात हमारे लिये शहद हो, उषाएं (प्रभातें) हमारे लिये शहद हों, पृथिवी के ऊपर की धूलि हमारे लिये शहद हो, द्यौ जो हमारा पिता है वह हमारे लिये शहद हो । भुवः (अन्तरिक्ष) स्वाहा ॥ धियो यो नःप्रचोदयात्—वनस्पति हमारे लिये शहद का भरा हुआ हो, सूर्य शहद का भरा हुआ हो। गौएं हमारे लिये शहद से भरी हुई हों। स्व: (द्यौ) स्वाहा ॥ फिर वह सारी सावित्री ऋचा और सारी मधुमती ऋचाओं को पढ़ता है (यह ध्यान करता हुआ) कि मैं ही सब कुछ हो जाउं । भूर्भुवः स्वः स्वाहा । इस से अन्त में खाकर * हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम की ओर पूर्व को सिर करके सो जाता है । प्रातःकाल (उठ कर) सूर्य का उपस्थान करता है (इस

* होम करने के पीछे मन्थ को जिस पर संस्रव डाला गया है) चार ग्रासों में भक्षण करता है । भक्षण करने के मन्त्र ' भूः, भुवः, स्वः ' ये तीन व्याहृतियें, गायत्री मन्त्र और तीनों मधुमती ऋचाएं (जिन में मधु शब्द का बार २ प्रयोग है, जो ऊपर कही हैं) हैं । पहली वार गायत्री का एक पाद मधुमती ऋचा और एक व्याहृति पढ़ कर स्वाहा शब्द कह कर एक ग्रास भक्षण करे । दूसरी बार गायत्री का दूसरा पाद दूसरी मधुमती ऋचा और दूसरी व्याहृति कह कर स्वाहा शब्द से भक्षण करे, तीसरी बार गायत्री का तीसरा पाद तीसरी मधु-मती ऋचा और तीसरी व्याहृति कह कर भक्षण करे। चौथी बार तीनों पाद गायत्री तीनों मधुमती ऋचाएं और तीनों व्याहृतियें पढ़ कर सारा भक्षण करे ।

मन्त्र से) ' तू चारों दिशाओं का सब से उत्तम कमल है (तेरे उदय होने पर सब दिशाएं कमल की नाईं खिल जाती हैं) मैं मनुष्यों के मध्य में सब से श्रेष्ठ कमल होजाउं (मेरे उदय से सब कमल की नाईं खिलजाएं) '। जैसे (=जिस रस्ते से पहले अग्नि के पीछे) गया था वैसे ही फिर लौट कर अग्नि के पीछे बैठ कर वंश † का जप करता है ॥ ६ ॥

त ᳿हैत मुद्दालक आरुणि र्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याया-न्तेवासिन उक्त्वोवाच अपि य एनं ᳿ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः, प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥ ७ ॥ एतमुहैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाच 'अपि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ' ॥ ८ ॥ एतमुहैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तये ऽन्तेवासिन उक्त्वोवाच ' अपि य एन᳿शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥९॥ एतमु हैव चूलो भागवित्ति र्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाच 'अपि य एन᳿शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥१०॥ एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाच 'अपि य एन᳿ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति'

† इस विद्या की प्राप्ति का, गुरु शिष्य परम्परा का वंश, जो नीचे दिया है ॥

॥ ११ ॥ एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाच 'अपि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति'। तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२ ॥

यह (मन्थ का रहस्य) उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को बतला कर कहा 'यदि कोई पुरुष इस (मन्थ) को सूखी छड़ी * पर भी छिड़के, तो उस में भी शाखाएं (टहनियां) उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥७॥ यही (रहस्य) फिर वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को बतलाकर कहा 'यदि कोई पुरुष इस (मन्थ) को सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उस में भी शाखाएं उत्पन्न होजाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥ ८ ॥ यही फिर मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इसको सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उसमें भी शाखाएं उत्पन्न हो जाएं और पत्ते फूट निकलें ॥ ९ ॥ यही फिर चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इस को सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उस में भी शाखाएं उत्पन्न हो जाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥१०॥ यही (रहस्य) फिर जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य जाबाल सत्यकाम को बतला कर कहा 'यदि कोई मनुष्य इस को सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उस में भी शाखाएं उत्पन्न हो जाएं और पत्ते फूट निकलें' ॥ ११ ॥ यही (मन्थ

---

* जो वृक्ष सूख कर छड़ी हो गया है ॥

रहस्य) जाबाल सत्यकाम ने अपने शिष्यों को बतलाकर कहा 'यदि कोई मनुष्य इस को सूखी छड़ी पर भी छिड़के, तो उस में भी शाखाएं उत्पन्न हो जाएं और पत्ते फूट निकलें' यह (मन्थ कर्म का रहस्य) अपने पुत्र वा अपने शिष्य * के सिवाय किसी को नहीं बतलाना चाहिये ॥ १२ ॥

चतुरौदुम्बरो भवति, औदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्यां उपमन्थन्यौ । दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति, व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च । तान् पिष्टान् दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३ ॥

(इस मन्थ कर्म में) चार वस्तुएं गूलर की लकड़ी की होती हैं गूलर का स्रुवा, गूलर का चमसा, गूलर की समिधा और गूलर की दो उपमन्थनियें (रगड़ने वाली चूर्ण बनाने वाली लकड़ियें)। गाओं के दस अनाज होते हैं (इस कर्म में लिये जाते हैं) अर्थात् चावल और जौ, तिल और माष, बाजरा और कंगनी, गेहूं, मसूर, खल और कुलथ † । इन को पीसकर

---

* इस विद्या के लिये पात्र केवल दो ही हैं, पुत्र वा अन्तेवासी । अन्तेवासी उस शिष्य से अभिप्राय है, जिस ने गुरु के पास कुछ देर वास किया है। (मिलाओ श्वेता० उप० ६ । २२ से) ॥

† ये दस अनाज अवश्य होने चाहियें, इनसे भिन्न यथाशक्ति सब ओषधियें और फल जो यज्ञ के अयोग्य नहीं, लिये जाते हैं देखो ६ । १ का नोट ।

इन पर दही शहद और घी छिड़कता है। तब आज्य (पिघले हुए घी) का होम करता है ॥ १३ ॥

चौथा ब्राह्मण *

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपोऽपामो-षधय ओषधीनां पुष्पाणि, पुष्पाणां फलानि फलाणां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

पृथिवी इन सब भूतों का सार है, पृथिवी का सार जल है, जलों का सार ओषधियें हैं, ओषधियों का सार फूल हैं, फूलों का सार फल हैं, फलों का सार पुरुष हैं, पुरुष का सार बीज है † ॥ १ ॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे, हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति, स स्त्रियꣳससृजे। ताꣳसृष्ट्वाऽधउपास्त, तस्मात् स्त्रियमध-उपासीत। स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्, तेनैना मभ्यसृजत् ॥२॥ तस्या वेदिरुपस्थो, लोमानि बर्हिश्

---

* यह ब्राह्मण यहां इस लिए प्रविष्ट किया गया है, कि श्री मन्थकर्म्म और पुत्रकर्म्म में परस्पर मेल है। जिस ने श्री मन्थ कर्म्म किया है, वही पुत्रमन्थ कर्म्म में अधिकारी है। 'श्रीमन्थ करने के पीछे वह पुत्रमन्थ कर्म्म के लिये पत्नी के ऋतु काल की प्रतीक्षा करे।

† इस चौथे ब्राह्मण का विषय, तो उपनिषद् से निराला ही है, और इस में क्या गौरव दिखलाया है, यह भी, मेरी समझ में कुछ नहीं आया ॥

चर्माधिषवणे, समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ । स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति, तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरति, आसाᳪस्त्रीणाᳪसुकृतं वृङ्क्ते अथ य इदमविद्वानोपहासं चरत्याऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३ ॥ एतद्धस्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्धस्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्धस्म वै तद् विद्वान् कुमारहारित आह, बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति य इदमविद्वाᳪसोऽधोपहासं चरन्तीति । बहु वा इदᳪसुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥ तदभिमृशेदनुवामन्त्रयेत, 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवी मस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे । पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्' इत्यनामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५ ॥

प्रजापति ने सोचा, अहो इसके लिये पक्की स्थिति (जिससे यह जगत् में बना रहे) बनाऊं, उसने स्त्री को उत्पन्न किया* ॥

---

* 'तां सृष्ट्वा' इत्यादि से यथाविधि पुत्रोत्पत्ति के कर्म को वाजपेय यज्ञ के सदृश बतलाया है और अन्त में पुत्रोत्पत्ति के कर्म के बिना रेतः स्कन्दन में प्रायश्चित बतलाने से अमोघवीर्य्य रहने का उपदेश दिया है । रहस्य होने से अक्षरार्थ स्पष्ट करके संस्कृत में लिखते हैं, तां च सृष्ट्वाऽधउपास्त=मैथुनाख्यं

कर्म्म अध उपासनं कृतवान् । तस्माद्धेतोः स्त्रियं अध उपासीत (इदानीमधउपासनाख्य कर्म्मणो वाजपेयेन साम्यं प्रकटयति) स एतं प्राञ्चं ग्रावाणं=सोमाभिषवोपलस्थानीयं प्रजननेन्द्रियं उत्पूरितवान् स्त्रीव्यञ्जनं प्रति, तेन एनां स्त्रियं अभ्यसृजत्= अभिसंसर्गं कृतवान् ॥ २ ॥ तस्या उपस्थो वेदिः (वेदिस्थानीयःवेदितव्यः) एवं लोमानि दर्भः, मुष्कौ अधिषवणफलके, रहस्य देशस्य चर्म अधिषवणाधारभूतं चर्म, समिद्धोऽग्निर्मध्यतःस्त्रीव्यञ्जनस्य । (ध्यानमुक्त्वा इदानीं वाजपेयतुल्यं फलं दर्शयति स्तुत्यै, तस्मादधोपहासकर्म्मणो बीभत्सा न कार्येति तात्पर्य्यम्) । य एवं विद्वान् अधोपहासं चरति, अस्य तावान् लोको भवति, यावान् वाजपेयेन यजमानस्य भवति । आसां च स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्ते=आवर्जयति=वशी कुरुते । अथ य इदमविद्वान् अधोपहासं चरति, अस्य सुकृतं स्त्रियाः आवृञ्जते= वशी कुर्वन्ति ॥३॥ (अविदुषामतिगर्हितमिदं कर्म्मे त्यत्राचार्य्य परम्परा सम्मति माह) एतद् अधोपहासाख्यं मैथुनकर्म वाजपेयेन संपन्नं विद्वांसः उद्दालक आरुणिः नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्चाहुः 'बहवो मनुष्या ब्राह्मणायनाः=ब्राह्मणा अयनं येषां ते ब्राह्मणायना ब्रह्मबन्धवो जातिमात्रोपजीविनः । निरिन्द्रिया विसुकृतश्च सन्तोऽस्माल्लोकात् प्रयन्ति । के । ये इदं रहस्यं अविद्वांसोऽधोपहासं चरन्ति इति । (इदमविद्वांसो मैथुनकर्म्मासक्ताः परलोकात् परि भ्रश्यन्ते इति मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपापहेतुत्वं दर्शयति) ॥

प्राणोपासकस्य श्रीमन्थकर्म कृतवतोऽधोपहासरहस्यविदोऽमोघवीर्यत्वाद् वृथा रेतः स्कन्दने प्रायश्चित्तं दर्शयति—

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्, तदभिमन्त्रयेत 'मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳसुकृतम्' इति । श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

अब यदि वह (जिस ने पुत्रमन्थ कर्म करना है) पानी में अपनी छाया देखे, तो वह यह मन्त्र पढ़े। 'मुझ में तेज हो, शक्ति हो, यश हो, धन हो और नेकी हो' ॥ स्त्रियों में से यह श्री है, जिस के वस्त्र शुद्ध हैं *। इस लिए शुद्ध वस्त्रों वाली

यद् इदं रेतः स्कन्दति बहु वा अल्पं वा सुप्तस्य वा रागप्राबल्याद् अन्यस्माद्वा कस्माच्चिद् दोषात् ॥ ४ ॥ तद्रेतः अभिमृशेद् अनुमन्त्रयेद्वा। यदाऽभिमृशति तदा 'यन्मेऽद्य········आददे' इत्यनेन मन्त्रेणाऽनामिकाऽङ्गुष्ठाभ्यां तद्रेत आदत्ते। 'आदाय च पुनर्मा······कल्पन्ताम्' इत्यनेन मन्त्रेण भ्रुवोः स्तनयो र्वामध्ये विमृज्यात्। मन्त्रयोरर्थस्तु='अद्य अप्राप्तकाले मम यद् रेतः पृथिवीं प्रति अस्कान्त्सीत् यद् ओषधीः प्रत्यपि अगमद्, अपः प्रति अगमत्, तदिदं रेतः सम्प्रति आददेऽहं' इत्यादानमन्त्रार्थः। अथ मार्जन मन्त्रार्थः=रेतोरूपेण बहिर्निर्गतं मम इन्द्रियं=प्राबल्यं पुनर्मा एतु (मां प्रति समागच्छतु) तेजः=त्वग्गता कान्तिः पुनर्मामेतु। भगः=सौभाग्यं पुनर्मामेतु। अग्निधिष्ण्याः अग्निस्थानाः देवाः तद्रेतो यथास्थानं कल्पयन्तु इति ॥ ५ ॥

* अर्थात् जिस ने तीन दिन व्रतिनी रह कर ऋतु दर्शन से चौथे दिन शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं ॥

(ऋतु स्नाता) यश वाली (अपनी धर्म पत्नी) के पास जाए और (उसे अपना अभिप्राय) बतलाए ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात्, काममेनामवक्रीणीयात् । सा चेदस्मै नैव दद्यात्, काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेद् 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे' इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥ सा चेदस्मै दद्याद् 'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि' इति । यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

वह (पत्नी) यदि इस बात को पसन्द न करे, तो चाहे इस (स्त्री) को (कुछ भूषण आदि) देकर प्रसन्न करे, वह यदि फिर भी नापसंद करे, तो चाहे इस को छड़ी से वा हाथ से ताड़ कर अधीन करके पास जाए * (यह कहता हुआ) 'इन्द्रियरूपी यश से तेरे यश को खींचता हूं' । तब वह स्त्री बिना यश के होती है ॥ ७ ॥ यदि वह इस को पसन्द करे, (तब यह कहता हुआ पास जाए) 'इन्द्रिय रूपी यश से तेरे यश को स्थापन करता हूं' वे दोनों यश वाले बनते हैं ॥८॥

स यामिच्छेत् 'कामयेत मेति' तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेद् 'अङ्गादंगात् संभवसि हृदयादधि जायसे । स त्वमंगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयि' इति ॥ ९ ॥ अथ यामिच्छेद् गर्भं दधीतेति । तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ सन्धायाभिप्रा-

* अतिक्रामेत् मैथुनाय ॥

ण्यापान्याद् 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे' इति । अरेता एव भवति ॥ १० ॥ अथ यामिच्छेद् 'दधीतेति' । तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसन्धायापान्याभिप्राण्याद् 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि' इति । गर्भिण्येव भवति* ॥ ११ ॥

---

* इन तीन कण्डिकाओं का अर्थ भी संस्कृत में लिखते हैं। इस ९ वीं कण्डिका का विषय यह है, कि यदि स्त्री अपने पति से द्वेष रखती हो, तो इस कर्म से पति में प्रीति रखने वाली बन जाएगी, 'स भर्ता यां भार्यां इच्छेत्, यद् इयं मां कामयेत इति । तदा स संभोगकाले तस्यां भार्यायां प्रजननेन्द्रियं निक्षिप्य मुखेन मुखं मेलयित्वा अस्या उपस्थं अभिमृश्य इमं मन्त्रं जपेत् 'हे रेतः त्वं मम अङ्गात् अङ्गात् समुत्पद्यसे विशेषतश्च हृदयात् अन्नरसद्वारेण जायसे सः त्वं अङ्गानां रसः सन् इमां अमुकनाम्नीं मदीयां स्त्रियं विषलिप्तेन वाणेन विद्धां मृगीमिव मद्वशां कुरु ॥ ९ ॥ (इदानीं भर्तुरभिप्रायविशेषेण विधि विशेषं दर्शयति) स भर्ता यदि इच्छेत् इयं गर्भं न धारयेद् इति तदा स संभोगकाले तस्यां प्रजननेन्द्रियं निक्षिप्य मुखेन मुखं मेलयित्वा प्रथमं प्रजननेन्द्रियद्वारा तदीय स्त्रीत्वे वायुं विसृज्य पुनस्तेनैव द्वारेण वायोरादानं कुर्यात् इमं मन्त्रं जपन् 'इन्द्रियेण रेतसा ते रेतः आददे' इति तदा सा गर्भिणी न भवति ॥ १० ॥ स यदि इच्छेत् इयं गर्भं धारयेद् इति । तदा स तस्यां प्रजननेन्द्रियं निक्षिप्य मुखेन मुखं मेलयित्वा प्रथमं स्वीयप्रजननेन्द्रियेण तदीयप्रजननेन्द्रियात्, वायुमादाय पुनः तेनैव द्वारेण विसृजेद् इमं मन्त्रं पठन् 'इन्द्रियेण ते रेतसा रेतः आदधामि' इति । तदा सा गर्भिणी एव भवति ॥ ११ ॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्, तं चेद् द्विष्याद्, आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳशरबर्हिःस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयाद् 'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ' इति। 'मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसौ' इति। 'मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसौ' इति। 'मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसौ' इति। स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात् प्रैति, यमेवंविद् ब्राह्मणः शपति। तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ १२ ॥

अब जिस की स्त्री का उपपति (जार) हो, और यदि (पति) उस को द्वेष करे, तो कच्चे पात्र में (आवसथ्य) अग्नि को प्रज्वलित करके कुशा की जगह सरकण्डे उलटे (अर्थात् पश्चिम की ओर अग्रवाले वा दक्षिण की ओर अग्र वाले) बिछा कर (तीन) सरकण्डे की तीलों को घी से चुपड़ कर उलटे (अन्दर की ओर सिर) रख कर उन का होम करे (यह कहते हुए) 'मेरी प्रज्वलित (योषाग्नि) में तूने होम किया है, मैं तेरे प्राण और अपान को लेता हूं, हे अमुक' *। 'मेरी प्रज्वलित अग्नि में तूने होम किया है, मैं तेरे यज्ञ और

* 'असौ=अमुक' की जगह शत्रु का नाम ग्रहण करे; शत्रु का वा अपना नाम ग्रहण करे (आनन्दगिरि और द्विवेदगङ्ग) ॥

पुण्य (श्रौत और स्मार्त कर्म) को लेता हूं, हे अमुक ' मेरी प्रज्वलित अग्नि में तूने होम किया है, मैं तेरी आशा और प्रत्याशा को लेता हूं हे अमुक ॥ इस विद्या को जानने वाला ब्राह्मण जिस को इस प्रकार शाप देता है, वह शक्ति हीन और पुण्य हीन हो कर इस लोक से चलता है, इस लिए ऐसा जानने वाला पुरुष, श्रोत्रिय (वेद जानने वाले) की पत्नी से उपहास भी न चाहे (क्या फिर अधोपहास) क्योंकि ऐसा जानने वाला (शत्रु) बड़ा भयानक शत्रु होता है * ॥ १२ ॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्, त्र्यहं कंꣳसेन पिबे-दहतवासाः । नैनं वृषलो न वृषल्युपहन्यात् । त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३ ॥ स य इच्छेत्, पुत्रो मे शुक्लो जायेत, वेदमनु ब्रवीत्, सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥ अथ य इच्छेत् , पुत्रो मे कपिलःपिंगलो जायेत, द्वौ वेदाव-नुब्रुवीत, सर्वमायुरियादिति, दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्म-न्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥

अब जब उस की पत्नी ऋतुमती हो, तो वह तीन दिन धात के बर्तन में (पानी) न पिये और नए वस्त्र पहने । उस को शूद्र पुरुष वा शूद्रा स्त्री स्पर्श न करे । तीन दिन पीछे जब न्हा चुके, तो उस से धान छड़वाए † ॥ १३ ॥ अब जो चाहे,

* देखो पारस्कर गृह्य १ । ११ ॥

† नीचे जो कर्म दिया है, उसकी विधि के लिये ॥

कि मेरे पुत्र शुक्लवर्ण का उत्पन्न हो, एक वेद को जाने और पूरी आयु (सौ वर्ष) भोगे, तब वे दोनों (दम्पती) चावल पकाकर दूध और घी डाल कर खाएं, तो वे (ऐसा पुत्र जनने के) समर्थ होंगे ॥१४॥ और जो यह चाहे, कि मेरे पुत्र कपिल वर्ण (कैरे रंग का) और भूरी आंखों वाला हो, दो वेदों को जाने और पूरी आयु भोगे, तब वे दोनों चावल पकाकर दही और घी डाल कर खाएं, तो वे (ऐसा पुत्र जनने के) समर्थ होंगे ॥ १५ ॥

अथ य इच्छेत्, पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत, त्रीन् वेदाननुब्रवीत, सर्वमायुरियादिति, उदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६ ॥

और जो यह चाहे, कि मेरे पुत्र श्यामवर्ण और लाल आंखों वाला हो, तीन वेदों को जाने, और पूरी आयु भोगे, तब वे दोनों खाली पानी में चावल पकाकर घी डालकर खाएं तो वे (ऐसा पुत्र जनने के) समर्थ होंगे ॥ १६ ॥

अथ य इच्छेद्, दुहिता मे पण्डिता जायेत, सर्वमायुरियादिति, तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥ अथ य इच्छेत्, पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत, सर्वान् वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति, मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा १८

और जो यह चाहे, कि मेरे कन्या पण्डिता हो और पूरी आयु भोगे, तब वे दोनों तिल चावल पकाकर घी डाल कर खाएं, तो वे (ऐसी कन्या जनने के) समर्थ होंगे ॥ १७ ॥ और जो यह चाहे, कि मेरे पुत्र पण्डित, प्रख्यात, सभा में जाने वाला (सब की भलाई के कामों में सम्मिलित होने वाला) (public man), जिस को लोग सुनना चाहें, ऐसी बाणी बोलने वाला (प्रसिद्ध वक्ता) उत्पन्न हो, सारे वेदों को जाने, और पूरी आयु भोगे,तो वे दोनों (दम्पती) औक्ष से वा आर्षभ से मांसौदन पकाकर घी डालकर खाएं, तो वे (ऐसी सन्तान उत्पन्न करने के) समर्थ होंगे ॥ १८ ॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकाऽऽवृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोति–'अग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति' हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति, प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति। प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षति–'उत्तिष्ठाऽतोविश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह' इति ॥ १९ ॥

* अब प्रातःकाल ही (उन छड़े हुए चावलों को लेकर) स्थालीपाक की विधि से (=गृह्य विधि से) आज्य (घी) का संस्कार करके (और चरु को पकाकर) स्थालीपाक को काट २ कर होमता है (यह कहते हुए)–' यह अग्नि के लिये है।

---

* पूर्व कहे हुए चावलों के बनाने और खाने का समय कहते हैं ॥

स्वाहा! यह अनुमति के लिये है, स्वाहा! यह सच्ची प्रेरणा वाले सविता देव के लिये है, स्वाहा! इस प्रकार होम कर (बचे हुए चरु को) निकाल कर खाता है, और आप खा करके फिर अपनी स्त्री को देता है। और आप हाथ धोकर जल का पात्र (पानी से) भर कर उस (पानी) से तीनबार इस पत्नी) को छिड़कता है (यह कहते हुए *)—'हे विश्वावसो †! यहां से उठ, अब और नई युवति ढूंढ, पत्नी को अपने पति के साथ मिला ‡॥ १९॥

अथैनामभिपद्यते—'अमोऽहमस्मि सा त्वꣳसा त्वमस्यमोऽहं, सामाऽहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तये' इति॥२०

अब वह (गर्भाधान करने लगा, पहले) इस को कण्ठ लगाता है (यह कहते हुए) 'मैं प्राण हूं, तू वाणी है §। तू वाणी है, मैं प्राण हूं। मैं साम हूं, तू ऋचा है ¶। मैं द्यौ हूं,

---

* मन्त्र एक ही बार उच्चारण किया जाता है॥

† देखो ऋग्वेद १०। ८५। २२॥

‡ हे विश्वावसो गन्धर्व तू इस (मेरी पत्नी) के पास से उठ, अब दूसरी स्त्री जो युवति है और पति के साथ क्रीड़ा कर रही है, उसको ढूंढ, इस अपनी पत्नी को अब मैं प्राप्त होता हूं (द्विवेदगङ्ग और आनन्दगिरि)॥

§ क्योंकि वाणी प्राण के सहारे है, जैसा स्त्री पति के (देखो छान्दो० उप० १। ६। १)॥

¶ क्योंकि साम ऋचा के सहारे गाया जाता है॥

तू पृथिवी है* । आ, हम दोनों उद्योग करें, मिलकर बीज स्थापन करें, एक नर बच्चे के पाने के लिये ' † ॥ २० ॥

सं०—अब गर्भ स्थापन की विधि बतलाते हैंः—

अथास्या ऊरू विहापयति ' विजिहीथां द्यावापृथिवी' इति । तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसंधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २१ ॥ हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थताऽमश्विनौ । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।

---

* द्यौ पृथिवी सारे जगत् के पिता और माता हैं ॥

† यह मन्त्र पाठभेद से अन्यत्र भी उद्धृत और व्याख्यात हुआ है । अथर्व वेद १४ । ७१ ' अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाऽहमस्म्यृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं; ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै ' यहां 'अमः' 'सा' के प्रतियोग में है । और ऐतरेय ब्राह्मण ८ । २७ में ' अमोहमस्मि स त्वं ' यह ' अमः ' ' सः ' के प्रतियोग में है । छान्दो० उप० १ । ६ में 'सा' से ' पृथिवी ' और ' अम ' से अग्नि आदि अर्थ लिये हैं । और ऐतरेय ब्राह्मण में ' सा ' से ऋक् और ' अम ' से साम अर्थ लिये हैं ॥

वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसौ' इति * ॥ २२ ॥

---

* इस का अर्थ भी संस्कृत में ही देते हैं–अथास्या पत्न्या ऊरू विश्लेषयति 'विजिहीथां द्यावापृथिवी' इत्यनेन मन्त्रेण। अत्र द्यावा पृथिवी इति ऊर्वोः संबोधनं, हे द्यावापृथिवी युवां विश्लिष्टे भवतम् इति। अथ तस्यां प्रजननेन्द्रियं स्थापयित्वा मुखेन मुखं संमेल्य त्रिरेनामनुलोमां मूर्धानमारभ्य पादान्तं अनुमार्ष्टि। विष्णुर्योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम्। 'विष्णुः योनिं पुत्रोत्पत्तिसमर्थां करोतु। त्वष्टा देवः तव रूपाणि पिंशतु= विभागेन दर्शनयोग्यानि करोतु। प्रजापतिः (विराडंशो विराडहं) (त्वयि रेतः) आसिञ्चतु। धाता (सूत्रात्मा) ते गर्भं दधातु। हे सिनीवालि पृथुष्टुके=विस्तीर्णस्तुते गर्भं धेहि पुष्करस्रजौ अश्विनौ देवौ ते गर्भमाधत्ताम्॥ २१॥

ज्योतिर्मय्यौ द्वौ अरणी प्रागास्तां, याभ्यां गर्भमश्विनौ निर्मथितवन्तौ। तं तथाभूतं गर्भं ते जठरे हवामहे दशमे मासि प्रसवार्थं। यथा पृथिवी अग्निगर्भा वर्तते। यथा वा द्यौरिन्द्रेण सूर्येण गर्भभूतेन गर्भिणी। यथा वा वायु र्दिशां गर्भः एवं ते गर्भं दधामि, असौ इति तस्या नाम गृह्णाति॥ (माध्यन्दिन पाठ अश्विनौ की जगह अश्विनौ देवौ, 'हवामहे' की जगह 'दधामहे' और असाविति की जगह 'असाविति नाम गृह्णाति' है। अन्त के वाक्य का (द्विवेदगङ्ग यह अर्थ करता है कि पति अपना नाम लेता है वा पत्नी का नाम लेता है) ॥ २२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । 'यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहाऽवैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराᳮसह ' इति ॥ २३ ॥

प्रसूत होती हुई को (आसानी से जनने के लिये) जल से छिड़कता है (यह कहते हुए) 'जैसे वायु पुष्करिणी (जोहड़) को चारों ओर से चलाता है। इसी प्रकार तेरा गर्भ चले और जरायु के साथ बाहर आवे। इन्द्र (प्राण) का यह मार्ग बनाया गया है जो अर्गल के और लपेट * (जेर) के साथ है। हे इन्द्र! तू उस गर्भ के साथ और मांस की पेशी † के साथ बाहर आ ॥ २३ ॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कᳮसे पृषदाज्यᳮसंनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोति—' अस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां माच्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणाᳮस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्टᳮसुहुतं करोतु नः स्वाहा ' इति ॥ २४ ॥

---

* अर्गल = अरल । अभिप्राय रुकावट से है, जो प्रसव काल से पहले गर्भ के बाहर आने में है ॥

† गर्भ बाहर आने के पीछे जो मांस की पेशी (बोटी) निकलती है ॥

* (अब जातकर्म कहते हैं) जब बच्चा जन्मता है, तब (पिता) अग्नि को प्रज्वलित करके और (बच्चे को) गोद में लेकर धात के बर्तन में पृषदाज्य (घी से मिला हुआ दही) को इकट्ठा करके पृषदाज्य का छोटा २ टुकड़ा अलग करके होमता है (यह कहते हुए)–' इस अपने घर में बढ़ता हुआ, मैं हज़ार गुणा पुष्ट होऊं । इस (मेरे पुत्र) की सन्तति में, सन्तान और पशुओं समेत श्री (लक्ष्मी) कभी विछिन्न न हो, स्वाहा ' ' मुझ (पिता) में जो प्राण हैं, उन को तुझ (पुत्र) में समर्पण करता हूं, स्वाहा ' † जो कुछ मैंने अपने कर्म में अधिक किया है, अथवा जो कुछ न्यून किया है, स्विष्टकृत् अग्नि उसे हमारे लिये स्विष्ट (ठीक यजन किया हुआ) और सुहुत (ठीक होमा हुआ) बनावे, स्वाहा ' ॥ २४ ॥

---

* ये और इस से पहिले की विधियें प्रायः गृह्यसूत्रों में पाई जाती हैं । देखो आश्वलायन गृह्यसूत्र १ । १३; पारस्कर गृह्य सूत्र १ । ११; शाङ्खायन गृह्य सूत्र १।१६ ॥ आश्वलायण १। १३ में यह स्पष्ट कहा है कि गर्भ लंभन, पुंसवन और अनवलोभन ये उपनिषद् में पाए जाते हैं । इस पर गार्ग्य नारायण ने कहा है कि ये किसी उपनिषद् में पाए जाते हैं, पर ये हमारी शाखा में नहीं । और फिर आगे लिखा है कि गर्भाधानादि आचार्य्य ने नहीं कहे, इस लिये नहीं करने चाहियें, यह कई कहते हैं, और दूसरे कहते हैं कि शौनक आदि के कहे मार्ग से कर लेने चाहियें ॥

† आश्वलायन गृह्य सूत्र १ । १० । २२ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागितित्रिरथ दधि मधु घृतꣳसंनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति । 'भूस्ते-दधामि, भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि इति' ॥ २५ ॥ अथास्य नाम करोति, 'वेदो-ऽसि ' इति । तदस्य तद् गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥

तब (अपना मुंह) इस बच्चे के दाएं कान के पास रख कर तीन बार बाणी बाणी* (कहता है) तब दही शहद और घी को इकट्ठा करके शुद्ध (खालिस) सोने (की सलाई) से† चटाता है । (यह कहते हुए) । ' भूः को तुझ में स्थापन करता हूं, भुवः को तुझ में स्थापन करता हूं, स्वः को तुझ में स्थापन करता हूं‡, भू र्भुवः स्वः सब तुझ में स्थापन करता हूं § ॥२५॥

---

* वेद (ऋचा, यजु सामरूप मन्त्रमयी) बाणी तुझ में प्रवेश करे, यह जप का अभिप्राय है ।

† सोने से ढपी हुई अनामिका (दूसरी) अंगुलि से ॥ पारस्कर गृह्य सूत्र १ । १६ । ४; सोने से चटाए, शाङ्खायन गृह्य सूत्र १ । २४ ॥

‡ द्विवेदगङ्ग ने भूः, भुवः स्वः, से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से अभिप्राय लिया है ।

§ माध्यन्दिन पाठ में यहां एक मन्त्र अधिक है, जो पिता पढ़ता है, जब वह पुत्र के कंधों को छूता है ' अश्मा भव, परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम् ' पत्थर होजा,कुल्हाड़ा होजा, शुद्ध सोना होजा

* तब वह इस को नाम देता है (कहते हुए) 'तू वेद है'। सो इस का गुह्य नाम होता है ॥ २६ ॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति। 'यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेकः' इति ॥ २७॥

तब वह बच्चे को (उस की) माता के पास देकर (उस को) स्तन देता है, (कहते हुए) 'हे सरस्वति! जो तेरा स्तन अनखुट, सुखमय, रत्नों के देने वाला, धन देने वाला और जो बड़ा दाता है। जिस से तू सब भलाइयों को पुष्ट करती है उस को तू यहां पीने के लिये बना' † ॥ २७ ॥

तू मेरा अपना आप है पुत्र नाम रखता हुआ, तू सौ बरस जी'। यही मन्त्र आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१५।३ में भी है ॥

* दो कर्म यहां बतलाए गए हैं। आयुष्य कर्म्म और मेधा जनन। यहां वे कुछ मिले जुले हैं। पारस्कर गृह्य सूत्र १। १६। ३ में मेधा जनन और आयुष्य को अलग २ बतलाया है। वहां मेधाजनन को पहले बतलाया है, जब कि पिता बच्चे को शहद और घी चटाता है, भूस्त्वयि दधामि' इत्यादि से। और आयुष्य कर्म्म में बच्चे की दीर्घ आयु की कामना से पिता बच्चे के कान में एक ही मन्त्र को बार २ दुहराता है। आश्वलायन १। १५। १ में आयुष्य और १। १५। २ में मेधाजनन कहा है। शाङ्खायन १। २४ में पहले आयुष्य और फिर मेधा जनन को बतलाया है। माध्यन्दिनीय बृहदारण्यक उपनिषद् में भी यही क्रम है ॥ † ऋग्वेद १। १६४। ४९ ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते—'इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरद्' इति। तं वा एत माहुरतिपिता बताऽभूरतिपितामहो बता भूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते' इति ॥ २८॥

तब इस की माता को सम्बोधन करता है–'तू इला है मैत्रावरुणी, हे वीरे! तू ने वीर को जन्म दिया है। सो तू वीर पुत्रों वाली हो, जिसने हमें वीर बच्चों वाला बनाया है' *।

* इस मन्त्र की व्याख्या में व्याख्याकारों का परस्पर भेद है। आनन्दगिरि लिखता है इला=स्तुत्या=भोग्या=स्तुति के योग्य, भोग के योग्य। और मैत्रावरुणी है अर्थात् अरुन्धती की न्याईं है, क्योंकि मित्र और वरुण का पुत्र मैत्रावरुण=वसिष्ठ और उस की पत्नी मैत्रावरुणी–अरुन्धती। द्विवेदगङ्ग कहता है, इडा का अर्थ भोग्या या इडापात्री या पृथिवीरूपा है और यह मैत्रावरुणी इस लिये है कि मित्रावरुण से उत्पन्न हुई है। 'वीरे' को द्विवेदगङ्ग ने सम्बोधन माना है और आनन्दगिरि सप्तमी मान कर 'मयि निमित्तभूते' यह साथ जोड़ देता है। सम्बोधन पक्ष में अजीजनत् की जगह अजीजनः पाठ अपेक्षित है जो पाठान्तर रूप में पाया जाता है माध्यन्दिन पाठ 'अजीजनथाः' है। यह व्याकरण की रीति से शुद्ध है। पर इस पाठ में छन्दोभङ्ग होता है। और यदि हम अजीजनः पाठ को स्वीकार करें तो हमें अकरत् की जगह भी 'अकरः' पढ़ना चाहिये। या आनन्दगिरि के अनुसार 'भवती' के अध्याहार से पाठ निबाहना चाहिये॥

और वे ऐसे बच्चे के विषय में कहते हैं-' अहो यह पिता से बढ़ कर हुआ है, अहो यह पितामह (दादा) से बढ़कर हुआ है। श्री से यश से और ब्रह्मवर्चस से, वह सब से ऊंचे पद को पहुंचा है, जो यह इस (रहस्य) के जानने वाले ब्राह्मण के (घर में) पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥ २८ ॥

पाञ्चवां ब्राह्मण ।

अथ वꣳशः । पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमी पुत्राद्, गौतमीपुत्रो भारद्वाजी पुत्राद्, भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्, पाराशरी पुत्र औपस्वस्ती पुत्राद्, औपस्वस्तीपुत्रः पाराशरी पुत्रात्, पाराशरीपुत्रः कात्यायनी पुत्रात्, कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्, कौशिकीपुत्रः आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च, वैयाघ्रपदी पुत्रः काण्वी पुत्राच्च कापीपुत्राच्च, कापीपुत्रः ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्राद्, आत्रेयीपुत्रो गौतमी पुत्राद्, गौतमीपुत्रो भारद्वाजी पुत्राद्, भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्, पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्रात्, वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वार्कारुणी पुत्राद्, वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणी पुत्रात्, वार्कारुणी पुत्रः आर्तभागी पुत्राद्, आर्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्रात् शौङ्गी पुत्रः सांकृती पुत्रात्, सांकृतीपुत्र आलम्बायनी पुत्राद्, आलम्बायनी पुत्र आलम्बी पुत्राद्, आलम्बी पुत्रो

जायन्ती पुत्राज्जायन्ती पुत्रो माण्डूकायनी पुत्रान्माण्डूकायनी पुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकी पुत्रः शाण्डिली पुत्राच्छाण्डिली पुत्रो राथीतरी पुत्राद्, राथीतरी पुत्रो भालुकी पुत्राद्, भालुकी पुत्र :क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृती पुत्राद् वैदभृती पुत्रः कार्शकेयी पुत्रात् कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगी पुत्रात्, प्राचीनयोगी पुत्रः साजीवीपुत्रात् सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादा सुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥ २ ॥ याज्ञवल्क्याद् याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशे रुपवेशिः कुश्रे कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्ययोगाज्जिह्वावान् बाध्ययोगोऽसिताद् वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते ॥ ३॥ समानमासांजीवीपुत्रात् सांजीवीपुत्रो माण्डूकायने र्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात् कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद् वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद् वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद् यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात् कावषेयात् तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

* अब वंश † (कहते हैं) (१) पौतिमाषी-पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से ‡ (२) कात्यायनी पुत्र ने गौतमी के पुत्र से (३) गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से (४) भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (५) पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से (६) औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (७) पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से (८) कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से (९) कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से (१०) वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से और कापी पुत्र से (११) कापी पुत्र ने आत्रेयी पुत्र से (१२) आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से (१३) गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से (१४) भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरी पुत्र से (१५) पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से (१६) वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से (१७) पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से (१८) वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से (१९) वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से (२०)

---

* माध्यन्दिन वंश में सब से पहले वयम्=हम, है, और आचार्यों के नामों में भी कुछ भेद है ।

† यह वंश सारे ब्राह्मण प्रवचन का है (निरा खिल काण्ड का नहीं) [शंकराचार्य्य] ॥

‡ स्त्री प्रधानता से गुणवान् पुत्र होता है यह प्रकरण है। इस लिए स्त्री (माता) के विशेषण से पुत्र को बतला कर (अर्थात् पौतिमाषी के पुत्र ने कात्यायनी के पुत्र इत्यादि रूप से) यह वंश वर्णन किया है (शंकराचार्य्य) पुत्र मन्थ कर्म्म स्त्री के संस्कार के लिये कहा है, सो उस के निकट का यह वंश भी स्त्री की प्रधानता से कहा है (द्विवेदगङ्ग) ॥

आर्तभागी पुत्र ने शौङ्गी पुत्र से (२१) शौङ्गी पुत्र ने सांकृती पुत्र से (२२) सांकृती पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से (२३) आलम्बायनीपुत्र ने आलम्बी पुत्र से (२४) आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से (२५) जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से (२६) माण्डूकायनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र से (२७) माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से (२८) शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से (२९) राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से (३०) भालुकी पुत्र ने क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों से (३१) क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से (३२) वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से (३३) कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से (३४) प्राचीन योगी पुत्र ने सांजीवी पुत्र से (३५) सांजीवी पुत्र ने प्राश्नी पुत्र-आसुरिवासी से (३६) प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से (३७) आसुरायण ने आसुरि से (३८) आसुरि ने ॥ २ ॥ याज्ञवल्क्य से (३९) याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से (४०) उद्दालक ने अरुण से (४१) अरुण ने उपवेशि से (४२) उपवेशि ने कुश्रि से (४३) कुश्रि ने वाजश्रवा से (४४) वाजश्रवा ने जिह्वावान्-बाध्ययोग से (४५) जिह्वावान्-बाध्ययोग ने असित-वार्षगण से (४६) असित-वार्षगण ने हरित-कश्यप से (४७) हरित कश्यप ने शिल्प-कश्यय से ४८) शिल्पकश्यप ने कश्यप-नैध्रुवि से (४९) कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से (५०) वाक् ने अम्भिणी से (५१) अम्भिणी ने आदित्य से ॥ (इस परम्परा से) आदित्य से आए हुए ये शुक्ल * यजु वाजसनेय याज्ञवल्क्य (के नाम) से कहे

* शुक्ल क्योंकि ये ब्राह्मण के साथ मिले हुए नहीं हैं, अथवा शुद्ध (दोषों से रहित) (शंकराचार्य्य) ॥

जाते हैं * ॥ ३ ॥ सांजीवी पुत्र ने (संख्या ३५) तक यह वंश समान है † । इस के आगे (३५) सांजीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से (३६) माण्डूकायनी ने माण्डव्य से (३७) माण्डव्य ने कौत्स से (३८) कौत्स ने माहित्थि से (३९) माहित्थि ने वामकक्षायण से (४०) वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से (४१) शाण्डिल्य ने वात्स्य से (४२) वात्स्य ने कुश्रि से (४३) कुश्रि ने यज्ञवचा-राजस्तम्बायन से (४४) यज्ञवचा-राजस्तम्बायन ने तुर-कावषेय से (४५) तुर-कावषेय ने प्रजापति से (४६) प्रजापति ने ब्रह्म से (४७) ब्रह्म स्वयम्भु (स्वयं होने वाला अनादि) है, ब्रह्म को नमस्कार है ‡ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यक-उपनिषद् समाप्ता ।

---

* वाजसनेय शाखा के यजु सूर्य से उपदेश किये गए हैं और याज्ञवल्क्य ने पाए हैं यह सब पुराणों में प्रसिद्ध है (द्विवेदगङ्ग) ॥

† सांजीवी पुत्र तक सारी वाजसनेयी शाखाओं में एकसा वंश है (आनन्दगिरि) ॥

‡ यह चौथी कण्डिका माध्यन्दिनपाठ में नहीं पाई जाती, पर इसी प्रकार का पाठ शतपथ ब्राह्मण १०।६।५।९ में पाया जाता है, जहां वात्स्य, शाण्डिल्य से पहले आया है ॥